वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

२८८६
क्रम संख्या (०५) २२(५४) A
काल नं० नागरी
खण्ड

...दन

...ह पूर्वार्ध सभा के सदस्यों की सेवा ... वासुदेवशरण अग्रवाल ने जिस ... सामग्री-संग्रह और सुव्यवस्थित ...प्पणी-लेखन तथा उपयुक्त चित्रों ...न्हें हार्दिक धन्यवाद देती है।

... राय कृष्णदास तथा डा० मोतीचंद के प्रति भी सभा आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करती है जिन्होंने समय समय पर इस अंक के लिये उपयोगी सूचनाएँ और परामर्श देकर तथा संपादन-कार्य में यथासाध्य सहयोग प्रदान कर संपादक का हाथ बँटाया है। श्री लल्लीप्रसाद पांडेय की भी सभा आभारी है जिन्होंने प्रूफ-संशोधन का भार स्वीकार किया है। फिर भी, छपाई इतनी शीघ्रता में हुई है कि त्रुटियों का रह जाना अवश्यंभावी है। आशा है, पाठक इसके लिये क्षमा करेंगे।

सुदूर अतीत से लेकर आज तक की साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक गति-विधि का प्रतीक-अंक प्रस्तुत करने का सभा का यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है, यह विद्वानों के निर्णय करने का विषय है।

स्वीकृत योजना के अनुसार यह विशेष अंक इस वर्ष की चारों संख्याओं के संयुक्त अंक के रूप में प्रकाशित होने को था; किंतु यथेष्ट कागज न मिल सकने के कारण इसे दो भागों में विभाजित करना पड़ा। कागज की सुविधा होते ही इसका उत्तरार्ध प्रस्तुत किया जायगा।

रामचंद्र वर्मा
प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा

विक्रम-पुष्पांजलि

[महाकवि कालिदास]

१

अत्र प्रियकारिणं सम्भावयामो राजर्षिम् ।

अपना हित करनेवाले राजर्षि का आज हम सम्मान करते हैं ।

२

दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

हे राजर्षि, विक्रम की महिमा के लिये हम आपका अभिनंदन करते हैं। स्वर्ग के महान् इंद्र का भी उपकार करने में आपका विक्रम समर्थ है; फिर पृथिवी-तल का तो कहना ही क्या है ?

३

वयं त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः ।

आपकी जय का बखान करनेवाले स्तुतिगानों को सुनकर हम आपके समीप एकत्र हुए हैं ।

४

दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते ।

हे महाराज, हर्ष है कि आपकी विजय की कहानी बढ़ रही है ।

५

सर्वथा कल्पशतं महाराजः पृथिवीं पालयन् भवतु ।

हे महान् राजन्, सैकड़ों कल्पों तक यह पृथिवी आपकी सुरक्षा और सुशासन से सजी हुई रहे ।

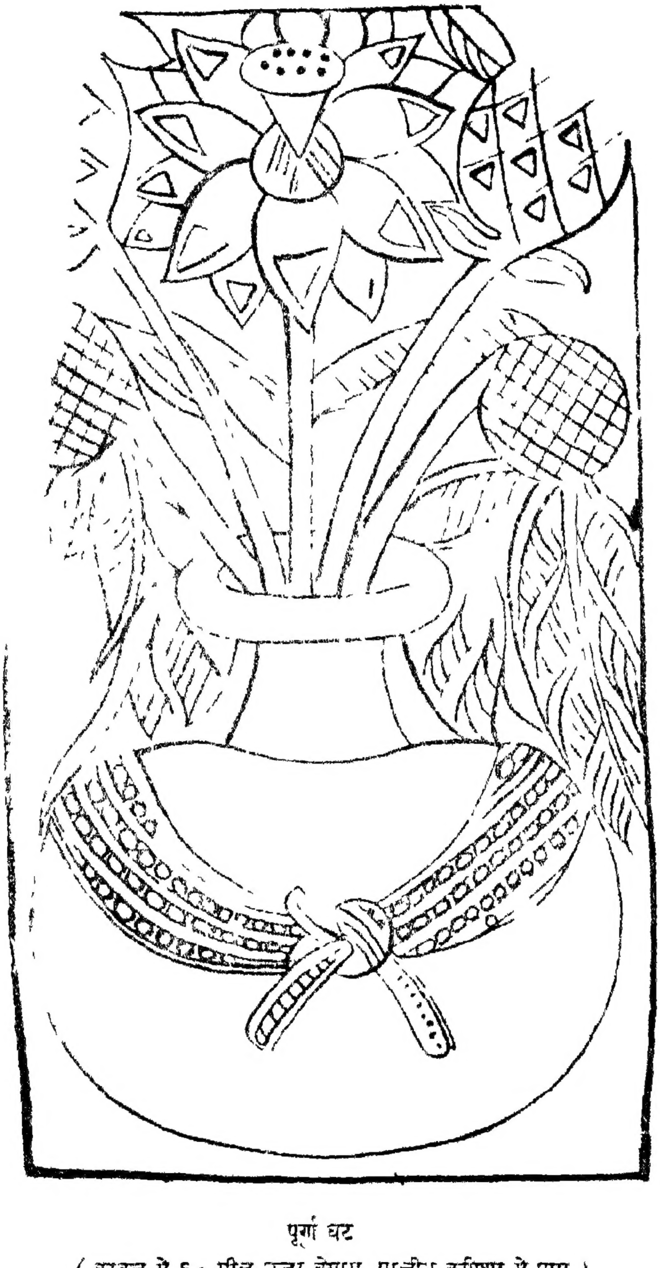

पूर्ण घट

(काबुल से ६० मील उत्तर बेग्राम, प्राचीन कपिशा में प्राप्त)

श्रीः

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

विक्रमांक

वर्ष ४८-अंक १-४ [नवीन संस्करण] वैशाख-माघ २०००

भारत-वंदना

§ १

[महाभारत से]

अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त से आरंभ कर देश के स्तुति-गान के कई उदाहरण हमारे साहित्य में प्राप्त होते हैं। उनमें से महाभारत के भीष्मपर्व की भारत-वंदना भावों की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है। भीष्मपर्व में जो भारत का भौगोलिक भुवनकोष दिया है, यह प्रशस्ति उसकी सुंदर काव्यमयी भूमिका है। इसके श्लोकों में प्राचीन वैदिक छंदों की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ ५ ॥
पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ॥ ६ ॥
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ॥ ७ ॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ॥ ८ ॥

अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ॥ ९ ॥

[भीष्म पर्व अ० ९]

संजय धृतराष्ट्र को संबोधन करके कहते हैं—

"हे भारत, अब मैं तुमसे उस भारतवर्ष का बखान करूँगा जो भारत देवराज इंद्र को प्यारा है, विवस्वान् के पुत्र मनु ने जिस भारत को अपना प्रियपात्र बनाया था;

हे राजन्, आदिराज वैन्य पृथु ने जिस भारत को अपना प्रेम अर्पित किया था और महात्मा राजर्षिश्रेष्ठ इक्ष्वाकु की जिस भारत के लिये हार्दिक प्रीति थी ;

प्रतापी ययाति और भक्त अंबरीष, त्रिलोकविश्रुत मांधाता और तेजस्वी नहुष जिस भारत को अपने हृदय में स्थान देते थे;

सम्राट् मुचुकुंद और औशीनर शिबि, ऋषभ ऐल और नृपति नृग जिस भारत को चाहते थे ;

हे दुर्धर्ष, महाराज कुशिक और महात्मा गाधि, प्रतापी सोमक और व्रती दिलीप जिस भारत के प्रति भक्ति रखते थे, उसे मैं तुमसे कहता हूँ।

हे महाराज, अनेक बलशाली क्षत्रियों ने जिस भूमि को प्यार किया है तथा और सब भी जिस भारत को चाहते हैं—

हे भरतवंश में उत्पन्न, उस भारत को मैं तुमसे कहता हूँ।"

इस भारतवंदना में जिन चक्रवर्ती राजर्षियों के नाम हैं वे भारत के इतिहास में हिमालय के ऊँचे शिखरों की भाँति सुशोभित हैं। वे लोग बिना कारण भारतवर्ष को प्यार करनेवाले न थे। इस भूमि की सभ्यता का उपकार करने के लिये उन्होंने अपने जीवन का भरपूर दान दिया। उन पुण्यात्मा राजर्षियों के विक्रम से भारत-धरित्री धन्य हुई। उनके स्थापित आदर्श भारत के चिरंतन जयस्तंभ हैं। जिस प्रकार सुमहान् हिमालय अपने द्रवित वरदानों की धाराओं से देश को सींचता है, उसी प्रकार महान् आदर्शों के वे हिमाद्रि हमारी संस्कृति को रस प्रदान करते हैं। इन महात्माओं ने आदर्शों के नूतन पथों का निर्माण किया। उनका कीर्तन इतिहासज्ञों का धर्म है।

§ २

[विष्णुपुराण से]

मन्वादि राजर्षि अपने किसी सुख के लिये भारतवर्ष के अनुरागी न थे। शिबि और दिलीप जिस कारण से भारतवर्ष को प्रेम करते थे वे इस भूमि के सत्य और धर्म के आदर्श हैं जिनको जीवन में प्रत्यक्ष करना उनका दृढ़ व्रत और पराक्रम था। इन पुण्य आदर्शों की जिस भूमि में प्रतिष्ठा हुई वह भूमि स्वर्ग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति का साधन समझी गई। इसी भाव के ध्यान से गद्गद होकर विष्णु-पुराण के लेखक ने स्वर्ग के पद से भी भारतवर्ष के पद को ऊँचा उठा दिया है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥ [विष्णु० २।३।२४]

"सुना है कि देवता भी स्वर्ग में यह गीत गाते हैं—'धन्य हैं वे लोग जो भारत-भूमि में उत्पन्न हुए हैं। वह भूमि स्वर्ग से भी विशिष्ट है, क्योंकि वहाँ स्वर्ग और मोक्ष दोनों की साधना की जा सकती है। जो देवत्व भोग चुकते हैं वे मोक्ष के लिये पुनः भारतवर्ष में जन्म लेते हैं, जहाँ के आदर्श अपवर्ग की प्राप्ति में कारणभूत हैं'।"

§ ३

[यजुर्वेद से]

ऊपर जिस आदर्श-संस्कृति की कल्पना की गई है उसका चित्र यजुर्वेद के इस आब्रह्मन् सूक्त में प्राप्त होता है—

आब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा;
जिष्णूरथेष्ठाः, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्।
योगक्षेमो नः कल्पताम्। [यजु० २२।२२]

हे ब्रह्मन्! हो राष्ट्र हमारा,
विश्वशिरोमणि भारत प्यारा।

हों बुध ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण,
महारथी राजन्य विचक्षण,
साध्वी वीरप्रसू महिलागण,
विजयी वीर सभेय युवकगण,
हो सब सभ्य समाज हमारा।

शूर हृषव्य यथेष्ठ सुलभ हों,
दोग्ध्री धेनु बलिष्ट वृषभ हों,
द्रुतगति अश्व वायु-सक्षम हो,
समय-समय पर घन-युत नभ हो,
बरसावें मधु-मधु जलधारा।

अन्नौषधि वैभव अनंत हों,
द्रुम-दल विलसित दिग्-दिगंत हों,
नर-नारी सब तेजवंत हों,
दिव्य भाव दिशि-दिशि ज्वलंत हों,
हो शुभ योग-क्षेम हमारा।

(पं० द्विजेन्द्रनाथजी कृत पद्यानुवाद)

— –

चरैवेति-चरैवेति गान

[लेखक—श्री वासुदेवशरण]

ऐतरेय ब्राह्मण के इस सुंदर गीत में इंद्र ने हरिश्चंद्र के पुत्र रोहित को सदा चलते रहने की शिक्षा दी है। इंद्र को यह शिक्षा किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण से प्राप्त हुई थी।

(१)

चरैवेति, चरैवेति

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम।

पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥

चरैवेति, चरैवेति।

हे रोहित, सुनते हैं कि श्रम से जो नहीं थका, ऐसे पुरुष को श्री नहीं मिलती। बैठे हुए आदमी को पाप धर दबाता है। इंद्र उसी का मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

(२)

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।

शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥

चरैवेति, चरैवेति।

जो पुरुष चलता रहता है, उसकी जाँघों में फूल फूलते हैं, उसकी आत्मा भूषित होकर फल प्राप्त करती है। चलनेवाले के पाप थककर सोए रहते हैं। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

(३)

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥

चरैवेति, चरैवेति।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होनेवाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है, पड़े रहनेवाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलनेवाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

(४)

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति।

सोनेवाले का नाम कलि है, अँगड़ाई लेनेवाला द्वापर है, उठकर खड़ा होनेवाला त्रेता है, और चलनेवाला कृतयुगी होता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

(५)

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति।

चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है। सूर्य का परिश्रम देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

इस गीत का वास्तविक अभिप्राय यह है कि जीवन में सदा चलते रहो, क्योंकि चलने का नाम ही जीवन है। ठहरा हुआ पानी सड़ जाता है, बैठा हुआ मनुष्य पापी होता है। बहते हुए पानी में जीवन रहता है, वही वायु और सूर्य के प्राण-भंडार में से प्राण को अपनाता है। पड़ाव डालने का नाम जिंदगी नहीं है। जीवन के रास्ते में थककर सो जाना, या आलसी बनकर बसेरा ले लेना मूर्च्छा है। जागने का नाम जीवन है। जागृति ही गति है। निद्रा मृत्यु है। अपने मार्ग में बराबर आगे पैर बढ़ाते रहो, सदा 'चलते रहो, चलते रहो' की ध्वनि कानों में गूँजती रहे। वह देखो अनंत आकाश को पार करता हुआ अपरिमित लोकों का परिभ्रमण करता हुआ सूर्य प्रातःकाल आकर हममें से प्रत्येक के जीवन-द्वार पर यही अलख जगाता है—

'मेरे श्रम को देखो, मैं कभी चलता हुआ थकता नहीं;
इसलिये, चलते रहो, चलते रहो।'

विक्रम-सूत्र

[लेखक—श्री रामदत्त शुक्ल भारद्वाज, लखनऊ]

स्वयं वाजिन् तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।

महिमा तेऽन्येन न संनशे। [यजु० २३।१५]

क्रम क्या है? क्रम की अपेक्षा से विक्रम क्या है? क्रम और विक्रम में क्या अंतर है?

क्रम गति है, विक्रम विशेष गति है। क्रम जीवन में अस्तित्वमात्र का परिचायक है, विक्रम जीवन की सत्ता में चैतन्य का योग है। क्रम अस्ति-भाव है, विक्रम जीवन में चरैवेति की सशक्त भावना के साथ संयुक्त होना है।

क्रम पृथिवी के साथ रेंगता है, विक्रम महान् होकर द्युलोक को भी नापता है। क्रम की स्थिति भूमि के समानांतर रहती है, विक्रम का दृढ़ मेरुदंड ऊर्ध्वस्थित होता है।

क्रम वामन है, विक्रम विष्णु की भाँति विराट् है। वामन से विराट् में आना ही विक्रम की सच्ची परिभाषा है। क्रम पैरों के नीचे की भूमि को कठिनाई से देखता है, विक्रम तीन पैरों से समस्त ब्रह्मांड को नाप लेता है—

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्"

प्रजापति विष्णु ने सृष्टि-रचना में महान् विक्रम किया। अपने तीन पदों से द्यावा पृथ्वी के गंभीर प्रदेश को विष्णु ने मापा। विष्णु के पदों से जो परिच्छिन्न हुआ है, वह सतत विक्रम से प्रभावित है। एक क्षण के लिये भी विष्णु के विक्रमशील कर्म में व्यवधान नहीं होता।

मनुष्य वामन है, देवत्व विराट् भाव है। मानवी मन विक्रम से युक्त होकर विराट् होता है। साढ़े तीन हाथ की क्षुद्र परिधि से परिवेष्टित मनुष्य का मन जब विक्रम से युक्त होता है, सारे विश्व को नाप लेता है। मनुष्य मर्त्य है, परंतु विक्रम अमृत भाव से युक्त होता है।

मनुष्य के प्रयत्न अल्पायु होते हैं, विक्रम का साका लोक में चिरायुष् लाभ करता है।

जिस केंद्र में विक्रम के भाव उत्पन्न होते हैं, उसकी लहरें तीन लोक में व्याप्त हो जाती हैं, विक्रम के स्फुरण को दूर तक सब अनुभव में लाते हैं।

जहाँ विक्रम है वहीं जीवन का पूर्ण विकास है। प्रत्येक मनुष्य अपने केंद्र-बिंदु पर स्थित होकर विक्रम करने में समर्थ है। तपःप्रभाव और देवप्रसाद विक्रमशील आदर्श जीवन की उपलब्धि के साधन हैं।

विक्रम के अनेक रूप हैं। विराट् भाव विश्वरूप से युक्त होता है। स्वयं प्रजापति विष्णु ने विक्रमयज्ञ के द्वारा सृष्टि उत्पन्न की। क्षत्रकार्य, ज्येष्ठता, जानराज्य, और इंद्रत्व, इन चार गुणों को राजसूय यज्ञ में धारण करने के लिये राजा अपने राष्ट्र में विक्रम करता है। जातवेद आचार्य अपने प्राणों से भी प्रिय अंतेवासी के शुद्ध अंतःकरण में ब्रह्मदान द्वारा उसमें दीर्घायुष्य और अपने लिये अमृतत्व की उपलब्धि के निमित्त-विक्रम करता है। ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मचारी तापत्रय-विनाश तथा पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करने के लिये ब्रह्मौदन रूपी महान् शक्ति को अपने अंदर परिपक्व करने के लिये देवदुर्लभ विक्रम करता है। इसी प्रकार माता और पिता, पति और पत्नी, ऋत्विक् और यजमान, स्वामी और सेवक, आदि कल्याण-पथ पर निरापद अग्रसर होने के लिये सूर्य और चंद्र की भाँति सब अपने अपने क्षेत्र में पुनर्दान, अहिंसा और प्रज्ञान के आधार पर सतत विक्रम कर सकते हैं।

विक्रम का परिणाम कभी अहितकर नहीं हो सकता। वह तो सदा सत्य के अनुष्ठान के लिये ही होता है। विक्रम तो केवल कल्याण का आह्वान करता है। एक जनपद के विषय में अश्वपति कैकय की प्रतिज्ञा उनका महान् विक्रम है। मेरे जनपद में कोई स्तेन, संकल्प से विरहित अथवा आचारशून्य नहीं है। चक्रवर्ती महाराज दिलीप ने नंदिनी के रक्षार्थ अपने शरीर को अन्नरूप से सिंह के समक्ष प्रस्तुत करके एक लोकोत्तर विक्रम का परिचय दिया। इसी प्रकार भरत और भीष्म ने अल्पता की समस्त मर्यादाओं का अतिक्रमण करके भूमा भाव का महान् आदर्श स्थापित किया। आत्मविकास की अपेक्षा से ही विश्व का समस्त वैभव प्रिय होना संभव है, इस परम अध्यात्म

तत्त्व के सर्वश्रेष्ठ उपदेष्टा महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने भोग्यवस्तु-प्रधान और एकांततः विनश्वर सांसारिक वैभव का परित्याग करके अविनाशी अध्यात्म-विद्या प्राप्त करने के लिये जो दृढ़ संकल्प किया उसके समान आदर्श विक्रम इतिहास में सर्वथा दुर्लभ है। सतीत्व के क्षेत्र में प्रातःस्मरणीया गांधारी का उदाहरण ध्रुव के समान अलौकिक विक्रम का परिचायक है।

ओंकारपूर्वक जो वचन दिया जाता है, वह सदा सत्य ही करने के लिये होता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति विक्रम की जनयित्री है। पृथिवी शैल-सागरों को सुख से धारण करती है, किंतु वह असत्य का भार नहीं वहन कर सकती।

"सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः"

वामन के विक्रम के लिये बलि के अडिग सत्य की आवश्यकता है।

जीवन का प्रत्येक क्रम विक्रम में परिणत किया जा सकता है। जो विक्रम के रूप में परिणत हो जाता है, वही शाश्वत महत्त्व रखता है। विक्रम के तीन पद वामन के असंख्य पदों से अधिक महिमाशाली हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ और यति विक्रम के तीन चरण हैं, जिनसे यह जीवन नापा गया है। प्रथम पद में प्रदत्त अविकसित दैवी शक्तियों का पूर्ण विकास होता है, द्वितीय पद में सुविकसित वैभव का सुप्रयोग किया जाता है, और तृतीय पद में पुनः वितरित शक्तियों को परिपूर्ण करके अक्षय अध्यात्मकोश की उपलब्धि करने के लिये विक्रम किया जाता है। प्रथम दो पदों का ध्येय आभ्युदयिक कल्याण है और तृतीय पद का लक्ष्य निःश्रेयस् सिद्धि है। इन दोनों प्रकार की सिद्धियों की सुप्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। विष्णुरूपी यज्ञ के यही त्रिपाद, तीन सवन, तीन अवस्थाएँ अथवा तीन विक्रम हैं।

विक्रम संवत्सर का अभिनंदन

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

मैं संवत्सर हूँ—राष्ट्र के विक्रम का साक्षी, अतीत का मेरुदंड और भविष्य का कल्पवृक्ष। मुझसे राष्ट्र पोषित हुआ है और मैं राष्ट्र से विक्रमांकित हुआ हूँ। भारतीय महाप्रजाओं के मध्य में मैं महाकाल का वरद प्रतीक हूँ। मेरा और राष्ट्र का गौरव एक है। मेरे विक्रमशील यश की लिपि सब ओर अंकित है। गौरवशील शताब्दियाँ मेरी कीर्ति के जयस्तंभ हैं। मैं सोते हुओं में जागनेवाला हूँ। मेरे जागरणशील स्पर्श से युग-युग की निद्रा और तंद्रा गत हो जाती हैं। महाकाल की जो शक्ति सृष्टि को आगे बढ़ाती है वही मुझमें है। मेरे सशक्त बाहुओं में राष्ट्र प्रतिपालित हुआ है।

मैं चलनेवालों का सखा हूँ। मेरे संचरणशील रथचक्रों के साथ जो चल सका है वही जीवित है। मेरे अक्ष की धुरी कभी गरम नहीं होती, धीर अबाधित गति से मैं आगे बढ़ता हूँ। पृथिवी और द्युलोक के गंभीर प्रदेश में मेरी विद्युत् तरंगें व्याप्त हैं। उनसे जिनके मानस संचालित हैं उनकी निशा बीत जाती है।

मैं प्रजापति हूँ। प्रजाओं के जीवन से मैं जीवित रहता हूँ। प्रजाएँ जब वृद्धिशील होती हैं तब मैं सहस्र नेत्रों से हर्षित होता हूँ। मैं आयुष्मान् हूँ। प्रजाओं का आयुसूत्र मुझसे है। मैं प्रजाओं से आयुष्मान् और प्रजाएँ मुझसे आयुष्मान् होती हैं। उनके जिस कर्म में आयु का भाग है वही अमर है। प्रत्येक पीढ़ी में प्रजाएँ आयु का उपभोग करती चलती हैं; परंतु वे समष्टि रूप में अमर हैं क्योंकि उनके प्रांगण में सूर्य नित्य अमृत की वर्षा करता है। सूर्य अहोरात्र के द्वारा मेरे ही स्वरूप का उद्घाटन करता है। मैं और सूर्य एक हैं। मेरे एकरस रूप में संवत् और तिथियों के अंक दिव्य अलंकारों के समान हैं। उनकी शोभा को धारण करके मैं गौरवान्वित होता हूँ।

मेरे अंदर प्रजनन की अनंत सामर्थ्य है। प्रजात्वभाव मेरा सच्चा स्वरूप है। सर्वभूतधात्री लोकनमस्कृता पृथिवी के अंक में मेरे ही वरदान से प्रतिवर्ष अनंत सृष्टि होती है। जिस समय राष्ट्र की प्रजाओं में नवीन निर्माण की चेतना स्फुरित होती है वही मेरे यौवन का काल है। नूतन रचना की जो शोभा है वही मेरी श्री है। रचना की शक्ति ही प्रजाओं में जीवन का प्रमाण है। जिस युग में सबसे महान् रचना का कार्य हुआ है वही मेरे जीवन का स्वर्णयुग है। प्रत्येक देश का इतिहास सुवर्ण-युगों से ही श्रीमान् बनता है। सुवर्ण-युग इतिहास की परम ऋद्धि हैं। जहाँ ऋद्धभाव हैं वहीं इंद्र का पद होता है। मैं इंद्र का सखा हूँ। राष्ट्र के ऐश्वर्य में मैं इंद्र-पद को देखता हूँ। जिस युग में राष्ट्र का यश समुद्रों को लाँघकर द्वीपांतरों में फैल गया था और पर्वतों को पार करके देशांतरों में पहुँचा था, उसी युग में मैं अपने जीवन में धन्य हुआ।

मेरे कृतार्थ होने पर ही देश कृतकृत्य होता है। मेरे लिये हवि अर्पित किए बिना कोई जाति ऊर्जित नहीं होती। मैं ज्ञान और कर्म की हवि चाहता हूँ। सशक्त चिंतन और सक्रिय जीवन के यज्ञ का मैं यजमान हूँ। मेरे विक्रमपरक नामकरण के जो पुरोहित थे उन्होंने मेरे स्वरूप के यथार्थ भाव को समझा था। गणित के अंकों में समाए हुए मेरे रूप को देखकर जो मेरी अवहेलना करते हैं वे मूढ़ हैं। मैं महान् विक्रमांक हूँ। सृष्टि के निर्माण में विष्णु ने विचंक्रमण किया; राष्ट्र के निर्माण में मेरा विक्रम है। राजर्षियों की परंपरा ने अपने विक्रम के वरदान से मुझे उपकृत किया है। विक्रम ही मेरा उपनिषद् है। मेरा आदि और अंत अव्यक्त है। विक्रम का ओजायमान प्रवाह ही मेरे व्यक्त मध्य का सूचक है। उसमें प्रजाओं के जीवन का रस ओत-प्रोत रहता है।

मैं पुराण पुरुष की तरह वृद्ध होता हुआ भी विक्रम के कारण चिरंतन यौवन का स्वामी हूँ। जिसका जीवन सदा उत्थानशील है वही मेरा निकट संबंधी है, अन्यथा मैं एक-रसकाल के समान निर्लेप हूँ। सद्योत्थायी राष्ट्र पर कृपा करके ही मैं तिथियों के दीप्त अंक अपने उत्संग में धारण करता हूँ। प्रजाओं के कर्मठ जीवन के जो पादन्यास विक्रम के साथ रखे गए, उन्हीं को

छाप मेरे कालचक्र पर अमिट पड़ी है। उन चरण-न्यासों के लिये यदि प्रजाओं के मन में श्रद्धा का भाव है तो उनका भावी जीवन भी अमर है। मैं भूत के बंधन से भविष्य को बाँधने के लिये अस्तित्व में नहीं हूँ, वरन् अतीत के प्रकाश से भविष्य को आलोकित करने के लिये मैं जीवित हूँ।

जहाँ जीवन का रस है वहाँ मेरा निवास है। रस-हीन कर्म मुझे असत्य प्रतीत होता है। सत्य के आश्रय से ही जीवन में रस का स्रोत प्रवाहित होता है। निष्प्राण ज्ञान को मैं राष्ट्र का अभिशाप समझता हूँ। प्राणवंत ज्ञान व्यक्ति और समाज के जीवन को अमृत-रस से वृद्धि के लिये सींचता है। जहाँ रस है वहाँ विषाद नहीं रह सकता। जिस राष्ट्र के रस-तंतुओं को विपत्ति अभिभूत नहीं कर पाते वह आनंद के द्वारा अमृत पद में संयुक्त रहता है। जीवनरस की रक्षा, उसका संचय, संवर्धन और प्रकाशन ही व्यक्ति और राष्ट्र में अमृतत्व का हेतु है। मेरे रोम-रोम में अक्षय्य रस का अधिष्ठान है। उस रस का लावण्य प्रति-प्रभात में उषा की सुनहली किरणें मेरे शरीर में संचित करती हैं। जो विक्रम के द्वारा मेरे दिव्य भाव की आराधना करता है उसको पिता की भाँति मैं नवीन जीवन के लिये आशीर्वाद देता हूँ। मेरे पुत्र व्यष्टि रूप में मर्त्य होते हुए भी समष्टि रूप में अमर हैं।

उत्कर्ष मेरी वीणा के तारों का गान है। जागरण की वेला में जब विचारों का प्रचंड फगुनहटा चलता है, तब वसंत का मूलमंत्र प्रजाओं को हरियाली से लाद देता है, और सोते हुए भाव उठकर खड़े हो जाते हैं। जब राष्ट्रीय मानस का कल्पवृक्ष इस प्रकार नूतन चेतना से पल्लवित होने लगता है तब मैं स्वयं अपने विक्रम के अभिनंदन के साज सजाता हूँ। जब प्रजाओं के नेत्र तंद्रा के हटने से खुल जाते हैं तब भूत और भविष्य के अंतर को चीरकर दूर तक दृष्टिपात करने की उनमें क्षमता उत्पन्न होती है। राष्ट्र के कोष में जो ज्ञान की चिंतामणि है उसके एक सहस्र अंशुओं को प्रजा सहस्र नेत्रों से देखने लगती है। जीवन के अप्रकाशित क्षेत्र नए आलोक से जगमगाने लगते हैं। उन्नति और प्रगति के नए पथ दृष्टि में आ जाते हैं। पथ की धुँधली रेखाओं को मेरा विक्रमांकित अमर प्रदीप समय पर प्रकाशित करके जनता को आगे बढ़ने के

लिये उत्साहित करता है। मैं भूतकाल के संचित कल्याण को इस हेतु लिए खड़ा हूँ कि भविष्य को उसका वरदान दे सकूँ।

जिस युग में गंगा और यमुना ने अनंत विक्रम से हिमाद्रि के शिला-खंडों को चूर्णित करके भूमि का निर्माण किया था, उस देवयुग का मैं साक्षी हूँ। जिस पुरा काल में आर्य महाप्रजाओं ने भूमि की वंदना करके इसके साथ अपना अमर संबंध जोड़ा था, उस युग का भी मैं द्रष्टा हूँ। वशिष्ठ के मंत्रोच्चार और वामदेव के सामगान को, एवं सिंधु और कुभा के संगम पर आर्य प्रजाओं के घोष को मैंने सुना है। शतशः राजसूयों में वीणा-गाथियों के नाराशंसी गान से मेरा अंतरात्मा तृप्त हुआ है। राष्ट्रीय विक्रम की जो शत साहस्री संहिता है उसको इस नए युग में मैं फिर से सुनना चाहता हूँ। उस इतिहास को कहनेवाले कृष्ण द्वैपायन व्यासों की मुझे आवश्यकता है। परीक्षित के समान मेरी प्रजाएँ पूर्वजों के उस महान् चरित को सुनने के लिये उत्सुक हैं। 'न हि तृप्यामि शृण्वानः पूर्वेषां चरितं महत्'—मैं पूर्वज पूर्वजनों के महान् चरित को सुनते हुए तृप्त नहीं होता। योगी याज्ञवल्क्य, आचार्य पाणिनि, आर्य चाणक्य, प्रियदर्शी अशोक, राजर्षि विक्रम, महाकवि कालिदास और भगवान् शंकराचार्य के यशोमय सप्तक में जो राग की शोभा है उससे मनुष्य क्या देवता भी तृप्त हो सकते हैं। मेरा आशीर्वचन है कि भारत के कीर्तिगान का सत्र चिरजीवी हो। प्रत्नकाल से भारती प्रजाओं के विक्रम का पारायण जिस अभिनंदनोत्सव का मुख्य स्वर है, वही मेरा प्रिय ध्यान है। राष्ट्र का विक्रमांकित इतिहास ही मेरा जीवन-चरित है। मेरे जीवन का केंद्र ज्ञान के हिमालय में है। सुवर्ण के मेरु मैंने बहुत देखे, पर मैं उनसे आकर्षित नहीं हुआ। मेरे ललाट की लिपि को कौन पुरातत्त्ववेत्ता पढ़कर प्रकाशित करेगा ?

मैं कालरूपी महान् अश्व का पुत्र हूँ जो नित्यप्रति फूलता और बढ़ता है। विराट् भाव की संज्ञा ही अश्व है। विस्तार और वृद्धि यही अश्व का अश्वत्व है। जब राष्ट्र विक्रमधर्म से संयुक्त होता है तब वह मुझपर सवारी करता है, अन्यथा मैं राष्ट्र का वहन करता हूँ। मेरा अहोरात्ररूपी नाड़ी-जाल राष्ट्र के विवर्धन के साथ शक्ति से संचालित होने लगता है। मेरी प्रगति की

इयत्ता नहीं है। यद्यपि मैं महार्णव के समान सदा अपनी मर्यादाओं का रक्षक हूँ, तथापि विक्रम के ओज से मेरी उत्ताल तरंगें पृथिवी और आकाश के अंतराल को भरने के लिये उठती हैं।

मेरी आयु का एक-एक क्षण अमोघ है। ऋतुओं के साथ मैं ब्रह्मचारी हूँ। मेरी उत्पादन शक्ति से राष्ट्रीय इतिहास की जो ऋतु कल्याणी बनती है उसी का तेज और सौंदर्य सफल है। राष्ट्रीय विक्रम की सहस्र धाराओं ने मेरा अभिषेक किया है। एक-एक पुरुषायुष से जीवित रहनेवाली प्रजाओं के मध्य में मैं ही अमर हूँ। मेरा परिचय अनेक महान् आदर्शों के रूप में हुआ है।

हिमालय के प्रांशु देवदारुओं की तरह जो महापुरुष अपने चरित्र-योग से ऊपर उठे हैं उनकी स्मृति मेरे जीवन का रस है। चरित्र को महान् करने का संकल्प जब व्यक्ति में और राष्ट्र में उठता है, तब मेरा प्राण सोते से जागता है। मेरी भूमि पर शाश्वत प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये प्राणों को शक्ति और रस से स्पंदित करना आवश्यक है। मेरा प्राण वे सुंदर स्वस्थ प्रजाएँ हैं जो सौ वर्ष तक अदीन भाव से जीवित रहती हैं। मेरे प्रजापति रूप को शतायु और प्राणवंत प्रजाएँ बहुत प्रिय हैं। उनकी विक्रमपरक परिचर्या से बहु-पुत्र-पौत्रीण गृहपति की तरह मैं तृप्त होता हूँ। जिस अंश में क्रियाशील प्रजाएँ नव निर्माण का कार्य करती हैं उसी को मैं उनकी आयु का अमृत और सत् भाग मानता हूँ, शेष इतिहास का असत् भाग है।

पृथिवी के साथ सौहार्द भाव का संबंध मेरी जीवनधारा का पोषक प्राण है। यह भूमि मेरी माता है, और मैं इसका पुत्र हूँ [माता भूमिः पुत्रो अहम् पृथिव्याः], यह भाव जहाँ है वहाँ जीवन का अमृततुल्य दुग्ध सदा विद्यमान रहता है। पृथिवी पर प्रतिष्ठित हुए बिना कोई मेरे अमृतत्व का प्रसाद नहीं प्राप्त कर पाता। जब प्रजाओं का बहुमुखी चिंतन भूमि के साथ बद्धमूल होता है तब वह बसंत की तरह नए पल्लवों से लहलहाता है। जिसकी विचारधारा भूमि में प्रतिष्ठित नहीं है वह शुष्क पर्ण की तरह मुरझाकर गिर जाता है। अपने पैरों के नीचे की पृथिवी के नदी-पर्वत, वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी आदि के सम्यक् दर्शन से राष्ट्र के नेत्रों में देखने को नई ज्योति उत्पन्न

होती है। पृथिवी के भौतिक रूप में प्रजाएँ जितना अधिक रस लेती हैं उनका जीवन उतना ही रस-पोषित होता है।

प्रजाओं के जीवन की दीक्षा भी मेरा प्राणभाग है। मेरी दृष्टि में जीवन का कौशल यही है कि उसमें ज्ञान और कर्म की निरंतर सिद्धि होती रहे।

जहाँ इस प्रकार त्रिविध प्राणों की आराधना से प्रजाएँ राष्ट्र में जागती हैं वहाँ मेरी अनुभूति उनके मन में जागती रहती है। अन्यथा उन्हें ध्यान भी नहीं होता कि मेरा अस्तित्व उनके साथ है या नहीं। विष्णु के तीन चरणों की तरह मेरे भी तीन विक्रम हैं। उन तीन विक्रमों को पूरा करके ही जीवन सफल होता है। भूमि, भूमि पर बसनेवाली प्रजाएँ और प्रजाओं में रहनेवाला ज्ञान—इन तीनों को कल्याण-परंपरा ही मानों मेरी तीन ऋतुओं का मंगल-विधान है। मेरा समस्त जीवन ऋतुमय है। वसंत, ग्रीष्म और शरद् इनका पर्याय-क्रम इतिहास के चक्र को सतत घुमाता है। प्रत्येक संस्कृति को प्रभात, मध्याह्न और संध्याकाल के चक्र का अनुभव करना पड़ता है। शरद् के अनंतर वसंत का निश्चित आगमन मेरा सबसे बड़ा देवतुल्य प्रसाद है।

मेरे विक्रमांकित स्वरूप के स्मरण और अभिनंदन का यही उपयुक्त अवसर है। मेरे अभिनंदन से प्रजा स्वस्तिमती हो, यह मेरा आशीर्वाद है।

विष्णु का विक्रमण

[लेखक—श्री वासुदेवशरण]

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे ॥

विष्णु का त्रिविक्रम संसार का सबसे बड़ा साका है। विष्णु वामन थे, विक्रम करने से विराट् हुए। जो विक्रम करता है वह भी विष्णु की तरह वामन से विराट् हो जाता है, वह महान् बनता है और लोक में फैलता है। सृष्टि का महान् देव विष्णु है, जिससे इस जगत् की स्थिति है। उस विष्णु के पराक्रम से यह अद्भुत संसार रचा गया है। विष्णु ने पार्थिव लोकों को फैलाकर उनमें अनंत सौंदर्य, वैचित्र्य और रहस्य भर दिया है। यह विश्व आकर्षण और रस का अधिष्ठान है। सर्ग, स्थिति और नाश, ये विश्वव्यापी विष्णु के तीन दुर्धर्ष क्रमण या चरण हैं, जिन्होंने सारे संसार और मानवी जीवन को नाप रखा है। विश्व में कुछ भी ऐसा नहीं है जो इन चरणों के नीचे न हो। काल के एकरस क्रम में विष्णु के द्वारा ही विक्रम का भाव भरा गया। विष्णु का त्रेधाविचंक्रमण शांत काल का विक्षोभ है।

विष्णु का महान् पराक्रम एक क्षण के लिये भी मंद नहीं होता। विष्णु सत्य ही गुडाकेश है, जो नींद को जीतकर विनिद्र वीर्य से इस जगत् का संचालन करता है। विष्णु के बलों के स्रोत विश्व के रोम रोम से प्रकट हो रहे हैं। सूर्य और चंद्र, पृथिवी और द्युलोक, मेघ और समुद्र, इनकी स्थिति और विघटन विष्णु के नियमों पर ही निर्भर है।

वैदिक अर्थ-पद्धति के अनुसार संवत्सर या सूर्य का नाम विष्णु है। सूर्य में जो विक्रम है उसे प्रतिदिन हम देखते हैं। प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल, ये उसके तीन चरण हैं। अनंत चराचर को प्राण-वृष्टि से अमृत और जीवन प्रदान करना यह सूर्यरूपी विष्णु का विक्रम है। सूर्य का विक्रम

न हो तो सृष्टि का अंत हो जाय। संवत्सर भी विष्णु का एक रूप है। तीन ऋतुओं के तीन चरणों से संवत्सर अपने कल्याणों की सृष्टि और वृष्टि करता है। वसंत, ग्रीष्म और शरद् इनमें से किसी भी ऋतु का यदि विपर्यय हो, तो प्रजाओं के हित के लिये प्रवर्तित चक्र का खंडन होने लगता है। प्रत्येक वर्ष में संवत्सर कितनी अधिक प्राणि-संपत्ति और सस्य-संपत्ति को जन्म देता है? अनेक वीर्यवती ओषधियाँ, महान् वृक्ष और वनस्पति संवत्सर के विक्रम का फल पाकर उत्पन्न होते और बढ़ते हैं। संवत्सर स्वरूप से वामन है। उसके तीन चरण बारह महीनों की परिमित अवधि में समाप्त हो जाते हैं, परंतु इन्हीं चातुर्मास्य के बौने चरणों से संवत्सर रूपी विष्णु ने महाकाल के अनंत विस्तार को नाप रखा है। जो वामन था, वह वस्तुतः अपने भीतर विष्णु का रूप लिए हुए था—'वामनो ह विष्णुरास', शतपथ १।२।५।५।

वामन और विष्णु के संबंध का निरूपक संवत्सर और अनंत काल के पारस्परिक संबंध से भली भाँति प्रकट होता है। अनंत काल सहस्रशीर्षा पुरुष है। संवत्सर विष्णु है। विष्णु के समान संवत्सर भी अपरिमित बल से युक्त है, उसकी प्रेरणा से मानवीय इतिहास अग्रसर होता रहता है। जिस प्रकार विष्णु के यश का गान हमारा कर्तव्य है, उसी प्रकार संवत्सर का अभिनंदन और सम्मान भी आवश्यक कर्तव्य है।

ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार यज्ञ और यजमान भी विष्णु के रूप हैं। (शतपथ ६।७।२।१०-११)। प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन और सायं सवन, इन तीन भागों में यज्ञ के कर्मकांड की पूर्ति होती है, जो विष्णु के तीन चरणों के समान हैं। हमारा वैध-यज्ञ विराट् सृष्टि के विधान और मानवीय जीवन की ही अनुकृति है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यजमान विष्णु बनकर अपने जीवन के लोकों को अपनी यात्रा से नापता है। यह उसका बड़ा भारी वैष्णव विक्रम है। मनुष्य के विक्रम से जीवन में कितने अधिक निर्माण और उत्पादन का कार्य होता है?

मनुष्यों के समुदाय अर्थात् राष्ट्र में भी विष्णु का स्वरूप चरितार्थ देखा जाता है। राष्ट्र का विक्रम विष्णु के विक्रम से कम महिमाशाली नहीं कहा

जा सकता। व्यक्ति और समाज की स्थिति के लिये राष्ट्ररूपी विष्णु का पराक्रम आवश्यक है। भारतीय राजनीतिशास्त्र के अनुसार राजा या राष्ट्रपति विष्णु का स्वरूप है (नाविष्णुः पृथिवीपतिः)। जिस प्रकार विष्णु के यशोवीर्य का गान किया जाता है उसी प्रकार राष्ट्र में विक्रम करनेवाले राजर्षियों की कीर्ति का बखान भी राष्ट्रीय अभ्युदय के लिये आवश्यक है। विक्रम का गान प्रजाओं का धर्म है। विक्रम की नाराशंसी से ही जाति के जीवन में ऊर्जित रस भरता है।

ऋग्वेद के विक्रमण सूक्त

ऋग्वेद में विष्णु के विक्रम का वर्णन करनेवाले कई सूक्त हैं। इनमें विक्रमण की महिमा, उसका प्रकार और परिणाम सृष्टि के विराट् धरातल से कहा गया है। विक्रम चाहे जिस क्षेत्र में हो, एक जैसे नियमों के अनुसार प्रकट होता है। विक्रम के भाव को समझने के लिये इन सूक्तों का भावार्थ यहाँ दिया जाता है।

(१) ऋग्वेद १।२२।१६–२१

१—'क्योंकि विष्णु ने पृथिवी के सात लोकों में विक्रम किया है, इसलिये देव हमारे रक्षक हैं।'

सप्तांग राज्य पृथिवी के सात लोकों के समान है। उस सप्तांग राज्य में राजा जब तक विक्रम नहीं करता तब तक अन्य जन भी रक्षा करने में असमर्थ रहते हैं।

२—'विष्णु ने विक्रम के द्वारा तीन पैर रखे और सब कुछ उन पैरों की धूलि के नीचे समा गया।' जीवन के जिस क्षेत्र में व्यक्ति या समाज का वामन स्वरूप अपने क्षुद्र भाव को त्यागकर विराट् भाव को ग्रहण कर लेता है, वहीं वह विष्णुपन का परिचय देता है। जहाँ विष्णु-भाव है, वहीं त्रेधा विचंक्रमण का नियम पाया जाता है।

३—'जिस विष्णु ने तीन पैरों के द्वारा विक्रम किया, वह गोपा है,' अर्थात् रक्षा करने में स्वयं समर्थ है और स्वयं अपने वीर्य से गुप्त (रक्षित) है। 'वह धृतिशील है, कोई बाहरी शक्ति उसे दबा नहीं सकती।' अपने इन दो गुणों के कारण ही वह जीवन के सब धर्मों को धारण करता है (अतो धर्माणि

धारयन्)। विष्णु से धारण किया हुआ धर्म प्रजाओं के जीवन को धारण करता है। (नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः—उद्योग १३७।९)। विष्णु का पराक्रम उस धर्म की नींव है। यदि विष्णु का विक्रम न हो तो धर्म अस्त-व्यस्त हो जाते हैं।

४—'विष्णु के कर्मों को देखो, जो कर्म उसके महान् व्रतों की झाँकी देते हैं। वह विष्णु इंद्र का साथी मित्र है।' प्रजाओं के जिन कर्मों को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, उनका मूल स्रोत उच्च जीवनव्रतों में है। समाज में कठोर व्रतों की स्थापना कर्म की शक्ति का अनिवार्य अंग है। व्यक्ति के जीवन में जिस समय व्रत प्रवेश करते हैं, उसी क्षण से उसके कर्म भी उज्ज्वल और उन्नत होने लगते हैं। 'कर्म और व्रत' इंद्र और विष्णु की तरह आपस में जुड़े रहते हैं और एक दूसरे को शक्ति प्रदान करते हैं। महान् व्रतों से ही महान् कर्मों का जन्म होता है।

५—'जो विवेकशील हैं वे विष्णु के उच्चतम पद को आकाश में इस तरह स्पष्ट देखते हैं जिस तरह कोई खुला हुआ नेत्र हो।' प्रजाओं का उत्थान और नेतृत्व करनेवाले ज्ञानी व्यक्तियों की दृष्टि में जीवन और समाज के रहस्य स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उनकी चक्षुष्मत्ता कहीं रुकती नहीं। उनकी खुली हुई आँख से ही और सबको देखने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

६—'जो जागरूक हैं वे विष्णु की परमोच्च स्थिति को अपने स्तुतिगान से प्रकाशित करते रहते हैं।' विष्णु का सच्चा स्वरूप कभी तिरोहित न हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रबुद्ध व्यक्ति उस रूप को अपनी वाक्शक्ति और साधना से समुज्ज्वल करते रहें।

(२) ऋग्वेद १।१५४

१—'विष्णु के वीर्यशाली पराक्रम का हम बखान करेंगे, जिस विष्णु ने पार्थिव लोकों को अपने चरणों से नापा है, जिसने सबसे ऊँचे सबके सम्मान्य स्थान को टेक रखा है, जिसने लंबे डग भरते हुए तीन प्रकार से विक्रम किया है।' 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं', इसकी ध्वनि जिस समय प्रजाओं में उठती है, उस समय उनके कंठ में अपूर्व बल आ जाता है। वस्तुतः राष्ट्र रूपी

विष्णु के पराक्रमों का गान प्रजाओं का धर्म है। जिसने जीवन में किसी प्रकार का भी विक्रम किया है, उसके विक्रम के अवदान को कहना एक पवित्र धर्म है। विष्णु ने पार्थिव लोकों को अपने विक्रम के सूत्र से नापा। ज्ञान और कर्म के जो प्रदेश पहले अनधिकृत थे, वे विक्रम के द्वारा मनुष्यों के अधिकार-क्षेत्र में आ जाते हैं, यही विष्णु का भू-मापन कर्म है। प्रत्येक समाज में एक 'उत्तर सधस्थ' या सर्वोच्च एकता का स्थान रहता है, जिस धरातल पर सारे व्यक्तिगत और सामाजिक तथा राष्ट्रीय स्वार्थ और धर्म मिलकर एक हो जाते हैं। वह सधस्थ केवल विक्रम के द्वारा ही प्राप्त होता है। विक्रम की भावना बलवती होकर अपने साथ ऐक्य गुण का आवाहन करती है।

२—'वीर्य के कारण विष्णु की स्तुति की जाती है। वह भयंकर गिरिस्थ सिंह की तरह है। उसके लंबे तीन पैरों में सारे लोक बसते हैं।' विष्णु का महान् पराक्रम जन-समुदाय को उसके स्तुति-गान के लिये बाधित करता है। विष्णु के विक्रम की स्तुति कोई निस्सत्त्व कल्पना नहीं है। वह शक्ति का उचित सम्मान और अभिनंदन है जिसका करना प्रजाओं का स्वाभाविक धर्म है। जिस प्रकार पर्वत की दुर्गम घाटियों में झपटनेवाले भयंकर सिंह के पराक्रम की प्रशंसा करने के लिये हम मजबूर होते हैं, उसी प्रकार विष्णु के यश का कीर्तन हमें करना पड़ता है। विष्णु अपना चरण उठाकर जहाँ तक विस्तृत लोक को नाप देता है, वहीं तक और सब की इयत्ता या मर्यादा रहती है।

३—'यह स्तुति-गान (मन्म) विष्णु को बल से पुष्ट करे। वह विष्णु पुरुषों में वृषभ के समान शीघ्रगामी और पर्वत के शिखर जैसी ऊंचाई पर स्थित है। उसने इस लंबे चौड़े निवास-स्थान (सधस्थ) को तीन पैरों से नाप डाला।'

जो यशस्कर-नाद (मन्म) प्रजाओं के कंठ से उठता है, वह 'शूष' या बल बनकर विष्णु को प्राप्त होता है। विक्रम का गान नया शक्ति-संचार करने की प्रक्रिया है। जनता के ऐतिहासिक पराक्रम का वर्णन तथा उसके साहित्य, कला और संस्कृति का बखान उसको अपने स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये आवश्यक है। मातृभूमि ही वह सधस्थ है जहाँ सब एक साथ रहते हैं।

यह निवास-स्थान दीर्घ और विस्तृत है। विष्णु के चरणों में जितनी शक्ति होती है, उतना ही वह दीर्घ भू-मापन करता है। प्रजाएँ प्रत्येक क्षेत्र में अबाधित गति चाहती हैं। जिस क्षेत्र में उन्हें बाधाएँ मिलती हैं, वहीं विष्णु की गति कुंठित हो जाती है।

४—'विष्णु के विक्रम के जो तीन पैर हैं वे शहद से भरे हुए हैं। उस मधु का रस अक्षय्य है। विष्णु अकेला ही सब भुवनों को धारण करता है। तीन पृथिवियों और तीन आकाशों को वही रोके हुए है।' हम देखते हैं कि युग-युगांतर से प्रजाओं के द्वारा रस का आस्वादन होने पर भी वह रस उनके लिये क्षीण नहीं होता। अपनी संस्कृति के साथ जिस वस्तु का संबंध जुड़ जाता है उसी के अनुभव करने, सुनने और सोचने में प्रजाओं को रस मिलता है। रामायण और महाभारत, कालिदास और तुलसी—इनकी कविता में रस की जो अक्षय्य निधि है वह कभी समाप्त होने का नाम नहीं लेती। अपना ज्ञान, अपनी कला, अपने साहित्य का अक्षीयमाण रस बराबर भुक्त होने पर भी कभी नहीं छीजता। प्रत्येक युग की जनता नूतन दृष्टिकोण से उस रस की पहचान करती है। सत्त्व, रज और तम भेद से जीवन तीन प्रकार का है। अवम, मध्य और उत्तम भेद से राष्ट्र भी तीन प्रकार का होता है [पृथिवीसूक्त, मंत्र ८] इन्हीं से संबंधित तीन पृथिवियाँ और तीन आकाश हैं जिन्हें विष्णु धारण करता है।

५- 'विष्णु के उस प्रिय स्थान से हम जुड़ें जहाँ देवत्व के प्रेमी नर आनंदित होते हैं। विष्णु के उस परमोच्च स्थान में शहद का कुँआ है। वह उरुक्रम का बंधु है।' विष्णु के तीसरे चरण में 'मध्व उत्स' या शहद का स्रोत कहा गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक सब से ऊँचा पद या स्थिति है जहाँ सब प्रकार के आनंद का स्रोत है। विस्तृत विक्रम के द्वारा हम उस शहद के कुएँ के पास पहुँचते हैं।

६— प्रसन्नता से हम उन स्थानों में चलकर रहें जहाँ विक्रम के समय अनेक प्रकार की शीघ्रगामिनी रश्मियाँ (तीव्र प्रेरणाएँ) प्रजाओं में व्याप्त रहती हैं। दीर्घ गतिवाले विष्णु का परमपद बहुत ही मनोहर है।

(३) ऋग्वेद १।१५५-१५६ (भावार्थ)

विक्रम का यह गान महान् विष्णु के पौंस्य को बढ़ाता है। पुंस्त्व के संवर्धन से बाद में आनेवाले पुत्र पूर्व में होनेवाले पिताओं से बढ़ जाते हैं (दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम)।

जीवन के लिये और लोक में अनंत विस्तार के लिये (उरुगायाय जीवसे) * हम मिलकर उस विष्णु के पौंस्य का बखान करते हैं (पौंस्यं गृणीमसि)।

विष्णु के विक्रमणों को जब मनुष्य पहचानता है तो उसमें भी हलचल का भाव उत्पन्न होता है। विष्णु के तीसरे चरण को कोई नहीं देख पाता। आकाश में उड़नेवाले पक्षियों की भी वहाँ गति नहीं है।

'विष्णु का विक्रम गोल चक्र की तरह नित्य घूमता है। जैसे जैसे विष्णु नापता है उसका बृहत् शरीर आकार में बढ़ता है। वह विष्णु यौवन से भरे हुए कुमार के समान है।' जनता के पुण्य श्लोक का गान करनेवाले ऋक्वा गायकों की ऋचाओं को सुनकर विष्णु का यौवन पुन: उसके पास लौट आता है। पृथिवी पर बसनेवाला वृद्धजन अपने बृहच्छरीर और भूमापन करनेवाले रूप को प्राप्त करके यशगान के द्वारा फिर से युवा कुमार बन जाता है। प्रत्येक संस्कृति का चक्र गोल पहिए की तरह बारी बारी से ऊपर-नीचे घूमता रहा है। चक्रवत् परिभ्रमण ही संसार का नियम है।

विष्णु के निमित्त सबको अपना अपना अर्घ्य चढ़ाना है। जो विद्वान् हैं वे ज्ञान की हवि से विष्णु को समृद्ध करते हैं। संस्कृति की सेवा ही उनके द्वारा राष्ट्ररूपी विष्णु का संवर्धन है। परंतु जो हविष्मान् हैं, जिनके समीप भौतिक संपत्ति की हवि है वे उसके द्वारा विष्णु के यज्ञ को बढ़ाते हैं।

'यह महान् विष्णु 'पूर्व्य' अर्थात् पुराने से भी पुराना है, परंतु साथ ही यह 'नवीयस्' अर्थात् नए से भी नया है। इस विष्णु की जो शोभनी

---

* ग्रिफिथ—Vishnu strode the realms of Earth for freedom and for life (ऋ० १।१५५।४)

आया या राष्ट्रीय श्री है उसे भी अर्घ्य देकर तृप्त करना चाहिए। विष्णु के महान् जन्म को कहकर हम अपने पूर्वपुरुषों के साथ जुड़ते हैं।

'जो जितना जानता है वह स्तवन करनेवाला यथाविद् कहकर विष्णु को तुष्ट करता है। प्रत्येक गायक महान् विष्णु की सुमति चाहता है, वह साधना से प्राप्त होती है।

'विष्णु उत्तम दक्ष को, सर्वाधिक प्राण को धारण करता है। विष्णु का सखा इंद्र है। इंद्र सुकृत और विष्णु उससे भी बढ़कर सुकृततर है। विष्णु आर्यजन की रक्षा करता है।' जन विष्णु है, राजा इंद्र है। इन दोनों का परस्पर सख्य भाव है। उत्तम दक्ष विष्णु के पास ही रहता है।

शाक्वरी व्रत

[लेखक—श्री वासुदेवशरण]

गोभिल गृह्यसूत्र ३।२।७९ में एक उल्लेख है कि प्राचीन काल में माताएँ अपने बच्चों को दूध पिलाते समय उस अमृत-क्षीर के साथ इस मंगलात्मक आशीर्वाद का पान कराती थीं कि 'हे पुत्रो, तुम इस जीवन में शाक्वरी व्रत के पारगामी बनो—

अथा हि रौरुकिब्राह्मणं भवति। कुमारान् ह स्म मातरः पाययमाना आहुः—शाक्वरीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति।

यह किसी प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथ का वचन है, जो इस समय अप्राप्य है और जिसका नाम रौरुकि ब्राह्मण था। रोरुक नगर प्राचीन सौवीर देश की जिसे आजकल सिंध कहते हैं राजधानी थी। रोरुक का वर्तमान नाम रोड़ी है जो सक्खर के पास सिंध के तट पर है। संभवतः इसी सीमांत देश के एक ऋषि-प्रवर ने इस शाक्वरी व्रत के माहात्म्य को भली भाँति समझकर राष्ट्रीय कुमारों के जीवन के साथ उसके संबंध को दृढ़ करने का उपदेश दिया था। जिस राष्ट्र में माताएँ कुमारों के जीवन-सूत्र का प्रारंभ शाक्वरी मंत्रों से करें, जहाँ स्तन्य-पान के साथ ही शाक्वरी भावना ओत-प्रोत हो, वहाँ की उद्यात्मक शक्ति का केवल अनुमान किया जा सकता है। जीवन-मूल मंगल-मंत्र का रहस्य शाक्वरी व्रत है। यदि यह पूछा जाय कि मानवी जीवन क्या है तो इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन 'डुकृञ् करणे' धातु के अनंत रूपों का विकास है। मनुष्य जो कर्म करता है उसी के अनुरूप अपने जीवन को ढालने में समर्थ होता है। कर्म करने की क्षमता जीवन का अक्षय्य धन है। इस अनंत भंडार में से प्रत्येक मनुष्य जो चाहे प्राप्त कर सकता है।

'डुकृञ् करणे' या 'करना' धातु का मेरुदंड 'शक्लृ' या सकना धातु है। मनुष्य की शक्ति उसके कार्य की सनातनी मेरु है। शक्ति की नींव पर

जीवन का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। हम जितना कर 'सकते' हैं वही हमारे जीवन की कसौटी है। 'शक्लृ' धातु के जिन लकारों का हमारे जीवन में पारायण हो पाता है वे ही हमारी गति के ध्रुवमापदंड बनते हैं। जीवन के शांत मुहूर्तों में जब हम सोचते हैं—"क्रतो स्मर, कृतं स्मर" अर्थात् अपने संकल्प का स्मरण करो और अपने कर्म से उसका मिलान करो, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि 'सकना' ही 'करना' है। हमारे दृढ़ संकल्प की शक्ति बाहु में अवतीर्ण होकर हमें कर्म की ओर प्रेरित करती है। शक्तिविहीन संकल्प कोरे कागज की भाँति है।

कर्मशक्ति या शाक्वरी के अंकों से लिखा हुआ पत्र जीवन में दर्शनी हुंडी के समान काम देता है। वह जीवन-लक्ष्य को वीर के अमोघ बाण की भाँति वेध देता है।

इस विश्व में जहाँ भी देखो शाक्वरी व्रत का प्रकाश है। प्रजापति अपने अनंत ईक्षण, तप और श्रम से सृष्टि बनाने में समर्थ हुए—यही उनका शाक्वरी व्रत था :—

'यदिमाल्लोकान्प्रजापतिः। सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद्यदिदं किं च तच्छक्वर्योऽभवंस्तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्।' (ऐतरेय ब्रा० ५।७)

अर्थात् प्रजापति ने इन लोगों को बनाकर यहाँ जो कुछ भी है उस सबको शक्ति-समन्वित किया। यही शक्ति शक्वरी हुई। प्रजापति के 'सकने', सृजन-सामर्थ्य में ही शक्वरी का शाक्वरीपन है। कौषीतकी ब्राह्मण २३।२ में कहा गया है कि इंद्र ने जिस शक्ति से वृत्रासुर का वध किया उसका नाम शाक्वरी है।

एताभिर्वा इन्द्रो वृत्रमशकद्धन्तुम् तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तस्माच्छक्वर्यः ॥

एक ओर आसुरी शक्ति का प्रतीक वृत्र है, दूसरी ओर दैवी शक्ति के प्रतिनिधि इंद्र हैं। देवों और असुरों के शाश्वत-संग्राम में जिस विशाल संचित शक्ति से देवता असुरों पर विजय पाते रहे हैं उस शक्ति का नाम शाक्वरी है। जब तक विश्व-नियंता के सर्वाभिभावी नियमों के अनुकूल सृष्टि के कार्यों का संचालन होता रहेगा तब तक आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक क्षेत्रों में अवश्य ही असुरों को शाक्वरी शक्ति के अनुशासन में

रहना पड़ेगा। तांड्य ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि इंद्र के द्वारा वृत्रासुर की पराजय पाप की पराजय है।

जितना शीघ्र हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शक्ति के अवलंबन से पाप को पराजित कर देते हैं उतने ही वेग से हम जीवन के श्रेष्ठ कल्याणों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

एताभिर्वा इन्द्रो वृत्रमहन्। क्षिप्रं वा एताभिः पाप्मानं हन्ति क्षिप्रं वसीयान् भवति। (तांड्य १२।१३।२३)

इंद्र का वज्र शाक्वरी शक्ति से बना हुआ है, इसलिये उसे प्राचीन परिभाषा में शाक्वर कहा गया है। "शाक्वरो वज्रः" (तै० २।१।५।११)। राष्ट्र का रक्षक बल शाक्वरी ही का सुंदर रूप है। ब्राह्मणों का ब्रह्मवर्चस तेज भी शाक्वरी शक्ति पर निर्भर है, वैश्यों की श्री और शूद्रों की पशु-समृद्धि तभी तक सुरक्षित है जब तक राष्ट्र में शक्वरी मंत्रों का महानाद जीवित रहता है। इस दृष्टि से ब्राह्मणकारों ने निम्नलिखित परिभाषाओं का उल्लेख किया है—

'ब्रह्म शक्वर्यः' (तां० १६।५।१८), "वज्र शक्वर्यः" (तां० १२।१३।१४), श्रीः शक्वर्यः (तां० १३।२।२), पशवः शक्वर्यः (तां० १३।१।३)।

गोभिल-गृह्यसूत्र में यह भी कहा गया है कि प्राचीन काल में ब्रह्मचारी वेदाध्ययन समाप्त करने के बाद कुछ काल पर्यंत विशेष रूप से शाकरी व्रत की आराधना के लिये आचार्य के पास ठहर जाते थे। विद्याध्ययन के द्वारा जो कुछ उन्हें उपलब्ध हुआ था उसे इस समय में अपनी संकल्प शक्ति के बल से जीवन के लिये उपयोगी बनाते थे।

इस शाकरी व्रत की अवधि में विशेष रूप से महानाम्नी ऋचाओं का अध्ययन और पारायण करना पड़ता था। ये दस ऋचाएँ सामवेद के अंतर्गत पूर्वार्चिक के अनंतर और उत्तरार्चिक के पहले दी गई हैं। इनका गान महानाम्नी साम कहलाता था और शाकरी छंद में होने के कारण इन्हीं को शाकरी भी कहते थे। किसी समय इन मंत्रों की महिमा गायत्री मंत्र के समान समझी जाती थी। गौतम और बौधायन के धर्मसूत्रों में इनको परम पावन कहा गया है। जिस समय राष्ट्र में वैदिक शिक्षा के आदर्श

जीवित थे उस समय माताएँ अपने बच्चों को स्तन्यपान कराते समय ये आशीर्वाद देती थीं—'हे पुत्रो! तुम यथाविधि ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करके विद्याध्ययन करते हुए अंत में महानाम्नी साम पर्यंत उच्च शिक्षा में पारंगत बनो।' ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि अपनी आत्मा को महान् बनाने का प्रयोग महानाम्नी है—

इन्द्रो वा एताभिर्महानात्मानं
निरमिमीत तस्मात् महानाम्न्यः (ऐत० ५।७)

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ के माध्यंदिन सवन में महानाम्नी ऋचाओं का गान किया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य का यौवनकाल जो कि उसके आयुरूप यज्ञ का माध्यंदिन सवन है, भरपूर शक्ति के संचय और अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम समय है।

महानाम्नी ऋचाओं में जिस शक्तिशाली इंद्र का आवाहन किया जाता है उस वज्रशाली देव की वीर्यवती महिमा का जीवन में साक्षात्कार करनेवाले नवयुवक जिस राष्ट्र व समाज में जन्म लेते हैं वह समाज कृतकृत्य हो जाता है। जहाँ आलस्य और मूर्च्छा रूपी घोर पापों को पैरों तले रौंद-कर प्रजाएं सोते से जागती हैं वह राष्ट्र इंद्र की भाँति ही महान् बन जाता है। उसके सभेय और रथेष्ठ युवक इंद्र का आवाहन करते हुए शाक्वरी गान करते हैं।

शाक्वरी मंत्रों का अनुवाद

"हे देवों में बलिष्ठ और महिष्ठ इंद्र! तुम पूर्वजों की शक्तियों के अधिपति हो। हम अपने नवजागरण में उन बलों का पुनर्दर्शन करना चाहते हैं।

अतएव हे वज्रिन्! तुम्हारे अपराजित तेज का हम श्रद्धा के साथ आवाहन करते हैं। तुम्हारी अबाधित गति हमारे रथ-चक्रों में निनादित हो।

हे शूर! अपनी समस्त रक्षण-शक्ति से हमारी रक्षा करो। अभ्युदय और रक्षा के लिये तुम्हारा सान्निध्य हमें प्राप्त हो।

हे वसुपते! हमको सब प्रकार से पूर्ण करो, क्योंकि जो भरे-पूरे हैं उन्हीं की संसार में प्रशंसा है।

हे अद्वितीय सखे ! तुम्हारी विजय चिरजीवी हो।"

जिस समय इन महानाम्नी ऋचाओं के उत्कर्षशाली स्वर गूँजने लगते हैं उस समय सब प्रजाएँ उसका अनुमोदन करती हुई पुकार उठती हैं—

एवा ह्येव। एवा ह्येव।
एवा ह्यग्ने। एवा हि इन्द्र।
एवा हि पूषन्। एवा हि देवाः॥

ऐसा ही होगा। अवश्य ऐसा ही होगा।
हे अग्नि, ऐसा ही होगा। हे इंद्र, ऐसा ही होगा।
हे पूषा, ऐसा ही होगा। और हे अन्य सब देवो, ऐसा ही होगा।

हमारे कर्म की शक्ति से जीवन की परिधि उत्तरोत्तर विस्तार को प्राप्त होगी और हमारे दृढ़ संकल्पों से सिंचित यह महावृक्ष युग-युगांत तक जीवन लाभ करता रहेगा।

पारिक्षिती गाथाएँ

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

राजा परिक्षित् के राज्य में प्रजा के योगक्षेम का एक आदर्श चित्र वैदिक साहित्य [अथर्व २०।१२७।७-१०] में मिलता है। ये परिक्षित् कुरु के वंशज थे और जनमेजय से बहुत पूर्व में हुए थे। इन मंत्रों को ब्राह्मण-ग्रंथों के व्याख्याताओं ने 'पारिक्षिती' संज्ञा दी है।* ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि छंदों का रस उनमें से निकल गया था। परंतु 'नाराशंसी' और 'पारिक्षिती' के द्वारा वह रस छंदों में पुनः भरा गया। प्रजाओं की संज्ञा 'नर' है और उनकी वाक् 'शंस' है। प्रजाओं की वाक् अर्थात् लोकवाणी नाराशंसी है। जब राष्ट्र की स्तुति में रसात्मक नाराशंसी फैलती है, तभी छंदों में रस बहने लगता है, अन्यथा छंद भी नीरस प्रतीत होते हैं। इसी तरह परिक्षित् जैसे विश्वजनीन या विश्वहितकारी राजा के राज्य में जब प्रजाएँ स्वस्तिमती हुईं तब उनके कल्याण से उत्पन्न रस पारिक्षिती जैसी लोक-गीतियों में बह निकला। ये पारिक्षिती मंत्र इस प्रकार हैं—

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोमर्त्यां अति।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः ॥ ७ ॥
परिच्छिन्नः क्षेममकरोत्तम आसनमाचरन्।
कुलायन्कृण्वन्कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥ ८ ॥
कतरत्त आ हराणि दधि मन्थां परि श्रुतम्।
जाया पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ ९ ॥
अभीव स्वः प्रजिहीते यवः पक्वः पथो बिलम्।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ १० ॥

---

* ऐतरेय ६।५।३२; कौषीतकी ३०।५; गोपथ २।६।१२।

७—उस राजा परिक्षित् की, जो सारे जन का स्वामी है, जो देवतारूप है और मनुष्यों में बढ़कर है, सुंदर स्तुति सुनो जो उसकी सब प्रजाओं को प्रिय है।

८—'राज्य के आसन पर विराजते ही परिक्षित् ने, जो सब में गुणवान् है, ऐसा योग-क्षेम किया जैसा पहले कभी नहीं हुआ था।'—यह वाक्य कुरु-देश का निवासी एक पति घर बसाते समय अपनी पत्नी से कहता है।

९—'दहीं, दूधिया सत्तू* और आसव इनमें से आपके लिये क्या लाऊं?' यह परिक्षित् राजा के राज्य में पत्नी अपने पति से पूछती है।

१०—गले से निगरता हुआ जो आकाश में सूर्य की ओर जैसे बढ़ता है, ऐसे ही परिक्षित् राजा के राष्ट्र में सुख से सब जन बढ़ते हैं।

राजा परिक्षित् के राज्य की यह सुख-समृद्धि उनके महान् विक्रम की द्योतक है। परिक्षित् के राज्य का भौगोलिक विस्तार उनके विक्रम की सच्ची माप नहीं है। उनके पराक्रम की महिमा राष्ट्र में रहनेवाले जन के भद्र या कल्याण से नापी जा सकती है जो कि चक्रवर्तियों के विक्रम का सच्चा आदर्श था। एक अश्वपति कैकेय देश जीतने के लिये अग्रसर नहीं होता, परंतु वह अपने राज्य के आसन पर विराज कर जब यह प्रतिज्ञा करता है कि मेरे जनपद का कोई व्यक्ति आचार में शिथिल नहीं है,† तो वह अपनी वाणी के तेज से विक्रम के वास्तविक अर्थों को प्रकाशित करता है। ऐसा विक्रम धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में जो चाहे कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन के जिस चक्र में स्थित है, उसके एकछत्र चक्रवर्ती पद को विक्रम के द्वारा प्राप्त कर सकता है।

---

* मन्थ अर्थात् दूध में जौ के सत्तू चलाकर बनाया हुआ पेय।

† "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ?"

देश का नामकरण

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

भारत

वायु पुराण के अनुसार हमारे देश का नाम भारतवर्ष है, और इसमें बसनेवाली जनता का नाम भारती प्रजा है। भारतवर्ष का भौगोलिक विस्तार समुद्र के उत्तर और हिमवान् के दक्षिण में कहा गया है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।
वर्षं यद्भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा॥

(वायु० ४५।७५)

इसी पुराण के एक अन्य श्लोक में कुमारिका अंतरीप से लेकर हिमालय में गंगा के प्रभव-स्थान तक फैला हुआ भूप्रदेश भारतवर्ष में सम्मिलित माना गया है—आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगाप्रभवाच्च वै।४५।८१।

पूर्व के महोदधि* और पश्चिम के रत्नाकर* नामक दो समुद्रों का जहाँ संगम है उसके समीप ही कुमारी अंतरीप है, जहाँ तपश्चर्या में निरत कुमारी पार्वती गंगा के प्रभवस्थान हिमाचल के देवदारु वृक्षों की वेदिका में समाधिस्थ भगवान् शंकर के ध्यान में अहर्निश लीन रहती हैं। देश के उत्तर-दक्षिण के दो बिंदुओं में संतत चारिणी विद्युत्-शक्ति की एक अत्यंत रमणीय कल्पना शिव और पार्वती के इस रूपक के द्वारा की गई है। देश की भूमि केवल पार्थिव परमाणुओं की राशि तो है नहीं, उसमें एक चेतन प्राणधारा जो कुंडलिनी की तरह सजग है, ओतप्रोत है। इसका अर्थ यह है कि उत्तर से दक्षिण तक देश के किसी भाग में होनेवाली घटना राष्ट्र के समस्त चैतन्य का स्पर्श करती है।

---

* आधुनिक बंगाल की खाड़ी का पुराना नाम महोदधि और अरब सागर का पुराना नाम रत्नाकर है।

दक्षिण में फैले हुए समुद्रों की अपार जलराशि के ऊपर कुमारिका अधिष्ठात्री देवी की तरह भारतवर्ष के साथ उन समुद्रों के संबंध को विज्ञापित करती है।

उत्तर में गंगा का उद्गम भारत की स्वाभाविक उत्तरी सीमा है। हिमालय में गंगा के उद्गम और धाराओं की खोज तथा नामकरण प्राचीन भारतीय भूगोल-वेत्ताओं के विलक्षण विक्रम का प्रमाण है। गंगा, अलकनंदा, भागीरथी, मंदाकिनी और जाह्नवी यद्यपि लोक-साहित्य में पर्यायवाची समझी जाती हैं, तथापि ये नाम हिमालय में गंगा की जलद्रोणी को सींचनेवाली पृथक् पृथक् धाराओं के हैं। इनमें से जाह्नवी गंगा की सबसे उपरली धारा है। वह हिमालय के भी उस पार जस्कर पर्वत-शृंखला से आई है और उसका उद्गम टिहरी रियासत का सबसे ऊपरी छोर है। वर्तमान भारत की उत्तरी सीमाएँ ठीक वहीं तक विस्तीर्ण हैं। इसलिये कह सकते हैं कि जहाँ तक गंगा है वहीं तक उत्तर में भारतवर्ष है।

पुराणों ने निरुक्तशास्त्र की दृष्टि से भी देश के नाम की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। मत्स्य और वायु पुराण के अनुसार—

भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम्॥ (वायु० ४५।७६)

'प्रजाओं का भरण-पोषण करने के कारण मनु की एक संज्ञा भरत कही गई है। इस शब्द-व्युत्पत्ति को ध्यान में रखते हुए यह देश भारतवर्ष कहलाता है।' इसका अभिप्राय यह है कि मनु प्रजापति ने सबसे पहले धर्म और न्याय की व्यवस्था स्थापित की। उस व्यवस्था के द्वारा प्रजाओं के भरण-पोषण का सिलसिला शुरू हुआ। इस भरणात्मक गुण के कारण मनु भरत कहे गए, और जिस भूखंड में मनु की संतति ने निवास किया और मनु की पद्धति प्रचलित हुई उसका नाम भारतवर्ष पड़ा। इस व्याख्या की यह विशेषता है कि इसमें देश के नामकरण को त्रैकालिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न है। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में भी कहा गया है कि यह मातृभूमि मनु की संतति के बे रोक-टोक (असंबाध) बसने का स्थान है।

किंतु भरत और भारत इन दो शब्दों का और भी प्राचीनतर मूल ऋग्वेद में है। ऋग्वेद-काल में भरत आर्यों की एक प्रतापी शाखा या जन की संज्ञा थी, जो

सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच में बसे थे। भरतों के द्वारा समिद्ध होने के कारण अग्नि की एक संज्ञा भारत प्रसिद्ध हुई और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी को भारती कहा गया। भरतों के द्वारा विकसित ज्ञान-प्रधान संस्कृति के लिये भारती, यह ठीक ही नाम था। 'भारत अग्नि' और 'भारती देवी' देश के जिस भाग में फैलती गई देश का वह भूभाग भारत नाम का अधिकारी होता गया। क्रमशः भारत नाम का संबंध सारे देश के साथ रूढ़ हो गया। भारत अग्नि और भारती देवी के आधार पर भारतवर्ष नाम की व्याख्या भूमि पर क्रमशः जन-प्रतिष्ठा और संस्कृति के विस्तार की सूचक है, और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बहुत ही सुंदर है।

ब्राह्मण-युग में प्राचीन भरत जन का अंतर्भाव कुरु-पंचाल के क्षत्रियों में होने लगा था। केवल एक जनपद के रूप में भरत नाम चालू रहा। प्राच्य भरत संज्ञा एक जनपद के लिये पाणिनि की अष्टाध्यायी में (२।४।६६; ४।२।११३; ८।३।७५) भी उपलब्ध होती है। ब्राह्मण-युग में भारत नाम की उत्पत्ति का आधार दौष्यंति भरत को कहा गया है। इन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ यमुना के तट पर और पचपन गंगा के तट पर किए। भरत के बढ़ते हुए प्रताप की महिमा को बताने के लिये यह भी कहा गया है कि सारी पृथिवी जीतकर भरत ने इंद्र के लिये सहस्रों अश्वों को मेध्य किया—

> परः सहस्रानिन्द्रायाश्वान्मेध्यान् य आहरत् ;
> विजित्य पृथिवीं सर्वाम् ॥ (शतपथ १३।५।४।१३)

इस गाथा में 'विजित्य पृथिवीं सर्वाम्' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। दिगंत-व्यापी भरत के प्रताप को प्रकट करनेवाली दूसरी गाथा यह है—

> महदद्य भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः।
> दिवं मर्त्य इव बाहुभ्यां नोदापुः पञ्चमानवाः ॥ (श० ब्रा०)

अर्थात्, भरत के महत् या महत्त्व को न पहले के न बाद के जनों में कोई प्राप्त कर सका, जैसे पृथिवी पर खड़े हुए किसी व्यक्ति के लिये आकाश को छूना कठिन हो। सब पृथिवी को अपने विजित में लाने के कारण भरत का महत्त्व पहले के और बाद के इतिहास में सबसे अधिक समझा गया। ब्राह्मण

होता है कि भरत के इस विशाल चक्रवर्ती स्वरूप से भारत देश के नाम का संबंध भारती जनता को बहुत रोचक प्रतीत हुआ। कुरु-पंचालों के यशःप्रधान काव्य महाभारत इतिहास में भरतवंशोत्पन्न भारत और देशवाची भारत का संबंध बिल्कुल निश्चित हो चुका था; और उसमें 'वर्ष भारत भारतम्' की गूँज सर्वत्र सुनाई देने लगती है। 'वर्ष भारत भारतम्' महाभारतकाल का सबसे बढ़िया भौगोलिक सूत्र है जो आज भी हमारे काम का है।

मध्यदेश—आर्यावर्त

मनु के धर्मशास्त्र में और पतंजलि के महाभाष्य में मध्यदेश और आर्यावर्त इन दो नामों का भी प्रयोग पाया जाता है। भारत नाम का प्रयोग वहाँ नहीं है। मध्यदेश और आर्यावर्त नामों की परंपरा लौकिक संस्कृत और काव्य-साहित्य में बराबर आगे चलती रही। पर इन दोनों नामों का प्रयोग समस्त देश के लिये न होकर उत्तरी भारत, विशेषतः गंगा-यमुना की अंतर्वेदी की विस्तृत सीमाओं के लिये ही प्रसिद्ध रहा। मनु में मध्यदेश के लिये बड़ी श्रद्धा का भाव प्रकट किया गया है। मध्यदेश मानव-चरित्र के लिये पृथिवी का आदर्श और उसका हृदय था। गुप्त-काल के सुवर्णयुग में भी मध्यदेश न केवल भारतवर्ष में, बल्कि चतुर्दिगंत में भी प्रसिद्ध हो गया था। नेपाल और तिब्बत में अंतर्वेदी के निवासी गौरव के साथ 'मध्यदेशीय' या मधेसिया कहे जाने लगे।

सिंधु-हिंदु

देश के नामकरण की एक दूसरी धारा ऋग्वेदीय 'सिंधु' शब्द है। ऋग्वेद में सिंधु शब्द उस महान् नद की संज्ञा के लिये प्रयुक्त हुआ है जो उत्तरपश्चिमी भारत के भूगोल की सब से बड़ी विशेषता है। सिंधु के इस पार का पंचनदीय प्रदेश तो भारतवर्ष की सीमा के अंतर्गत है ही, सिंधु के उस पार का वह काँठा भी जहाँ का पानी ढलकर सिंधु में आता है और जिसमें कुभा (काबुल नदी), सुवास्तु (स्वात पंजकोरा), गोमती (गोमल), क्रुमु (कुर्रम) आदि नदियाँ हैं—सदा भारतीय भौगोलिक विस्तार का एक अंग माना जाता था। अफगानिस्तान (आश्वकायन, गंधार), बदख्शाँ और

र (कंबोज) का प्राचीन भूगोल एक प्रकार से बिलकुल भारतीय संस्कृति न है और भारतवर्ष का जो सबसे पुराना प्राक्-पाणिनि-काल का साहित्य उसके साथ उस भूगोल का घनिष्ठ संबंध है। विक्रम की लगभग दसवीं दी तक सिंधु के उस पार के देशों से भारतवर्ष की हिंदू-संस्कृति का ा अटूट बना रहा। उस समय सिंधु के तट पर उद्भांडपुर नामक ानी (आधुनिक ओहिंद) में हिंदू धर्म के अनुयायी शाही राजाओं का पत्य था।

सिंधु नाम से हिंदू शब्द की कल्पना का संबंध मुस्लिमकाल से ना भ्रम है। मुसलमानी धर्म के जन्म से भी बारह सौ वर्ष पहले ी सम्राट् दारा (प्राचीन रूप दारयवहु, संस्कृत धारयद्वसु) के शिलालेखों क्रम से छठी शताब्दी पूर्व में भारतीय प्रदेशों के लिये हिंदु शब्द प्रयुक्त था। प्राचीन शूषा (आधुनिक सूसा) के राजमहल से मिले हुए शिला- में लिखा है—

पिरुष् हा इदा कर्त हचा कुष् आ उता हचा हिन्दउव् उता हचा हरउवतिया य् (पंक्ति ४३-४४)।

अर्थात् (इस राजप्रासाद के लिये) हाथीदाँत जो यहाँ बनाया गया, ुष देश से, और हिंदु से, और हरह्वैती से लाया गया।

इसमें हिंदवव् हिंदु शब्द की सप्तमी का एकवचन संस्कृत सिन्धौ के र है। उस समय भारतवर्ष का हिंदु नाम ईरान आदि विदेशों में र था।

दारा के अन्य लेखों में 'हिंदुष्' अर्थात् हिंदु (सं० सिंधु) और 'हिंदु- अर्थात् हिंदु देश का निवासी (सं० सिंधुव्यः) ये शब्द भी प्रयुक्त हुए पाणिनि के भूगोल के अनुसार सिंधु एक जनपद-विशेष का नाम भी जो आधुनिक पंजाब का सिंध-सागर दोआब है। यह स्मरण रखना र कि जिसे अब सिंध कहते हैं उसका प्राचीन नाम सौवीर था। प्राचीन जनपद का नाम सिंधु नदी के तट पर दूर तक फैले हुए होने के कारण ड़ा था। इसलिये यद्यपि एक जनपद-विशेष के लिये भी सिंधु शब्द रूढ़ ाया था, फिर भी भारत देश के लिये उसके रूपांतर हिंदु का प्रयोग उस

समय विदेशों में होता प्रतीत होता है। दारा के लेखों में वह जनपद-विशेष के लिये न होकर भारत देश के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि हाथीदाँत का व्यापार जिसके कारण हिंदु शब्द का उल्लेख हुआ है, सिंध-सागर दोआब के भूप्रदेश की अपेक्षा देश के पूर्वी भागों से ही अधिक होता था।

सिंधु-हिंदु समीकरण के आधार से ही प्राचीन यूनानी लेखकों ने इस देश को इंडोस् (Indos) कहा। अंत्य सकार प्रथमा के एकवचन का चिह्न है जैसा सं० सिंधुस् और ईरानी हिंदुष् में भी पाया जाता है। इसी परंपरा से भारतवर्ष के हिंदुस्तान, इंडिया, अब के नाम प्रचलित हुए हैं।

इन नामों के विषय में एक बात ध्यान देने की है कि स्वयं भारतवासियों ने अपने देश के नामकरण में भरत शब्द से प्रचलित परंपरा को अपनाया, किंतु विदेशी लेखकों ने सिंधु शब्दवाले नामों को ग्रहण किया। चीनी लोगों ने भी सिंधु नाम की परंपरा का व्यवहार किया। चीनी सेनापति पन्-योङ् ने वि० १८२ (१२५ ई०) में चीनी सम्राट् को पश्चिमी देशों का वर्णन करते हुए लिखा है कि थि-एन्-चु देश (देवों का देश) शिन्-तु नाम से भी प्रसिद्ध है। शिन्-तु सिंधु का ही चीनी रूप है*। चीनी साहित्य में इसी को 'इन्-तु-को' भी कहा है जिसमें इन्-तु, शिन्-तु (सिंधु) का रूपांतर है और 'को' का अर्थ देश है†।

---

* फारेन नोटिसेज् ऑफ सदर्न इंडिया, लेखक श्री नीलकांत शास्त्री, पृ० १०।

† 'इन्-तु-को' नाम की सूचना मुझे श्री शांति भिक्षुजी, चीनभवन, शांतिनिकेतन, से प्राप्त हुई है जिसके लिये मैं उनका आभारी हूं।

भारत-लक्ष्मी

लम्प्सकस (लघु एशिया) से प्राप्त चाँदी की तश्तरी से

लम्प्सकस से प्राप्त भारत-लक्ष्मी की मूर्ति

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

लम्प्सकस एशिया माइनर के उत्तर-पश्चिमी कोने के माइसिया जिले में एक प्राचीन स्थान था। उसकी ठीक स्थिति गैलीपोली के सामने समुद्र-तट पर थी। अर्वाचीन काल में लप्स्की ग्राम उस स्थान का सूचक है। यहाँ पर एक सुंदर प्राचीन चाँदी की तश्तरी प्राप्त हुई थी, जो इस समय इस्तांबूल के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह लगभग विक्रम की प्रथम-द्वितीय शताब्दी की है।

यह स्थान किसी समय यूनानी उपनिवेश था और यहाँ के बने हुए चाँदी के पात्र दूर दूर तक प्रसिद्ध थे। सीरिया की अंतियोक नामक नगरी अपने रुक्म-पात्रों के लिये प्रसिद्ध थी। महाभारत के सभापर्व में इस दूसरी पुरी को अंताखी कहा गया है। सम्राट् अगस्टस् के समय (वि० ७१ = १४ ई०) एशिया माइनर रोम-साम्राज्य का अंग हो गया था।

लम्प्सकस की चाँदी की तश्तरी रजत-शिल्प का एक सुंदर नमूना है। परंतु भारतवासियों के लिये इसका विशेष महत्त्व इसलिये है कि उस पर भारत-माता या भारतलक्ष्मी का एक सुंदर चित्र अंकित है। इसका शिल्पी कोई यूनानी रहा होगा। उसने भारत की व्यापार-कीर्ति की चर्चा से आकर्षित होकर भारत-लक्ष्मी की कल्पना एक सुंदर स्त्री के रूप में की है, जिसकी भव्य मुखाकृति पर कलाकार के कौशल की छाप स्पष्ट है। शिल्पी ने तत्कालीन रोमदेशीय संभ्रांत महिला के रूप में भारत माता का चित्रण किया है, परंतु वेष-भूषा और अलंकरण भारतीय अनुश्रुति से लिए गए हैं। स्त्री के सिर के उष्णीष से दो खूँटियाँ जैसी ऊपर को निकली हुई हैं। भारत-लक्ष्मी हाथीदाँत के बने हुए एक आसन पर बैठी है। इन दोनों विशेषताओं को देखकर इस संबंध में सभापर्व के अंतर्गत उपायनपर्व में रोमश पुरुषों का वर्णन ध्यान में आता है—

शकास्तुषाराः कंकाश्च रोमशाः शृंगिणो नराः ।
महागजान्दूरगमान् गणितानबुर्दान् हयान् ॥ १० ॥
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसंमितम् ।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ११ ॥
आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदंतमयानि च ॥ १२ ॥

अर्थात् शक, तुषार, कंक और शृंगी रोमश लोग अन्य उपहारों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के बहुमूल्य आसन, यान और शयन उपहार में लाए, जो कि मणि और सुवर्ण से जड़ाऊ होने के साथ गजदंत के बने हुए थे। हाथीदाँत पर सुवर्ण का जड़ाऊ काम यूनानी कला की एक बड़ी पुरानी विशेषता थी, जिसका प्रचार रोम-साम्राज्य में भी रहा।

भारतमाता के दोनों ओर कुछ पक्षी और पशु अंकित हैं, जो शुद्धतः भारतीय हैं। प्रथम शताब्दी के लगभग भारतीय महासागर की मौसमी हवाओं का परिचय रोम के व्यापारियों को हुआ, और तब से व्यापार अधिकांश में सामुद्रिक मार्गों से होने लगा। परंतु पशु-पक्षियों का भारतीय व्यापार स्थल-मार्ग से ही होता रहा। यह व्यापार एशिया माइनर के स्थल-मार्ग से होता था। वार्मिंग्टन का मत है कि चतुर शिल्पी ने अपने कौशल से इसी विशेषता की ओर संकेत किया है। संभवतः वह स्वयं व्यापारी न था, और उसे व्यापार की अन्य वस्तुओं की अपेक्षा स्थल-मार्ग से आनेवाली इन्हीं वस्तुओं का अधिक ज्ञान था।

भारतमाता के दाहिने हाथ के पास एक सुग्गे की मूर्ति है। बाईं ओर हिमालय प्रदेश का चकोर पक्षी है, जिसके गले से दो मांसपिंड के गलस्तन झूल रहे हैं। वार्मिंग्टन ने इसको पूर्वी अफ्रीका की कुक्कुटी कहा है, परंतु डा० कुमारस्वामी के मत में यह पहचान ठीक नहीं है। हाथीदाँत की कुर्सी के दोनों ओर दो पशु हैं, जिन्हें वार्मिंग्टन ने संदेह के साथ हनुमान या लंगूर कहा था। इनकी पूँछें लंबी, सिर पर झब्बूदार बाल, लंबे कान, बड़ी बड़ी गोल आँखें, पतली कमर और गले में पट्टा है। हमारी सम्मति में ये बघेरी

नस्ल के भारतीय कुत्ते हैं, जिनकी कीर्ति किसी समय यूनान तक पहुँची थी, और जिनका वर्णन प्लिनी और डायोडोरस आदि लेखकों ने विस्तार से किया है। ये भयंकर जाति के कुत्ते बाघों और शेरों से बराबरी की टक्कर लेते थे। सिकंदर के सामने भी इनकी शक्ति का प्रदर्शन कराया गया था।* कुत्तों की यह नस्ल केकय देश में तैयार की जाती थी, और अभी तक जीवित है। ननिहाल से बिदा होते समय भरत को केकयराज ने इस प्रकार के कराल डाढ़ोंवाले बड़े डीलडौल के कुत्ते भेंट किए थे जिनमें बाघों जैसा बल था और जो राजमहल में ही पालपोस कर तैयार किए जाते थे—

'अंतःपुरेऽतिसंवृद्धान् व्याघ्रवीर्यबलोपमान्।
दंष्ट्रायुक्तान्महाकायान् शुनश्चोपायनं ददौ॥'

(अयोध्याकांड, ७०।२१)

अवश्य ही भारतवर्ष के पशु-व्यापार में इस नस्ल के कुत्तों का प्रमुख स्थान रहा होगा।

कुर्सी के सामने दो हिंस्र पशुओं को पालतू रूप में दो व्यक्ति पकड़े हुए खड़े हैं। इनमें से दाहिनी ओर सिंह और बाईं ओर तेंदुआ है। इनके रक्षक धोती और उत्तरीय पहने हैं, सिर पर पगड़ी है। इनकी पगड़ी में भी खूँटियाँ जैसी दिखाई पड़ती हैं।

भारत के समृद्ध व्यापार का रोम-साम्राज्य में विशेष स्थान था। व्यापारियों के द्वारा इस देश का एक आकर्षक रूप रोम-साम्राज्य की जनता में विश्रुत हो गया था।

इसी समय अनेक भारतीय दूत-मंडल रोम-सम्राटों के पास आते-जाते थे। एक प्रणिधि-वर्ग सम्राट् अगस्टस के दरबार में भी पहुँचा था। ऐसे सम्मानपूर्ण वातावरण में भारतीय जनता और भारत देश के प्रति रोमीय जगत् में विशेष रुचि का होना स्वाभाविक है। उसी की तृप्ति के लिये अनेक कला के उदाहरण तैयार किए गए होंगे। उनमें से एक विशिष्ट उदाहरण यह चाँदी की

---

* मैक् क्रिंडिल, अलेक्जेंडर्स इन्वेजन, पृ० ३६३ (परिशिष्ट)।

करती है, जिसमें शिल्पी ने बहुत ही मार्मिक ढंग से भारत देश का मूर्त अंकन किया है। उसकी कला की परिभाषा अर्थ से भरी हुई होने पर भी मन पर एकदम सीधा प्रभाव डालती है। उसको अपनाने के लिये आयास की आवश्यकता नहीं। रोमन नागरिक उसके संकेतों को तुरत समझ लेते होंगे।

अभी हाल में पांपियाई की खुदाई में भी कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें से एक भारतीय स्त्री की है जो अपने आभूषण और वेष-भूषा के कारण स्पष्ट पहचानी जाती है।

रोमन-साम्राज्य के साथ भारतीय संस्कृति के संबंध के और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। मिस्र देश के अह्नास नामक स्थान में (इसका प्राचीन नाम हेराक्लिओपोलिस मैगना था) अख्नेतन और मेमफिस के बीच में नील नदी के बाएँ किनारे पर कला की बहुत सी सामग्री उपलब्ध हुई है, जिसमें भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। इस सामग्री का विशेष वर्णन द विलार्ड ने अपनी पुस्तक अह्नास की शिल्पकला (La Sculture ad Ahnas) में किया है और मिस्र और भारत के संबंध विषयक अनेक प्रमाण-ग्रंथों की पूरी सूची भी दी है। फ्लिंडर्स पिट्री को अह्नास में रोमदेशीय कला का एक मिट्टी का खिलौना भी प्राप्त हुआ था, जो एक भारतीय की मूर्ति है। [कुमारस्वामी, अमेरिकन प्राच्य-परिषद् की पत्रिका, भाग ५१, पृ० १८१]

पाद-टिप्पणी—इस रजत-पात्री का रेखा-चित्र वार्मिंग्टन की पुस्तक 'रोम और भारत का व्यापारिक संबंध' (इंटरकोर्स बिटविन इंडिया ऐंड दी रोमन वर्ल्ड) नामक पुस्तक के १४२वें पृष्ठ में दिया गया है। रोस्टोवोफ कृत 'सोशल ऐंड एकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ रोमन इंपायर' ग्रंथ में भी यह चित्र प्लेट १७ पर उद्धृत है। 'विक्रमांक' का रेखाचित्र वार्मिंग्टन की पुस्तक के आधार पर चित्रकार श्री रवींद्र चक्रवर्ती ने बनाया है।

गुप्त-युग में मध्यदेश का कलात्मक चित्रण

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

मध्यदेश किंवा आर्यावर्त गुप्तों के साम्राज्य का हृदय-केंद्र था। प्रयाग की दिग्विजय-प्रशस्ति के अनुसार समुद्र गुप्त ने पाटलिपुत्र से प्रारंभ करके अपने पराक्रम का क्रमिक विस्तार आर्यावर्त की ओर फैलाया। रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्म, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नंदि, बलवर्म—इन नौ आर्यावर्त के प्रमुख राजाओं को प्रसभोद्धरण की नीति से बलपूर्वक उखाड़कर दिग्विजयी सम्राट् ने सर्वप्रथम आर्यावर्त में अपने प्रभाव को महान् बनाया। प्रशस्ति के गुणवान् कवि हरिषेण ने लेख के अंतिम श्लोक में सार्थक ढंग से कहा है कि भट्टारकपादीय सम्राट् का यश उनकी भुजाओं के विक्रम से इस प्रकार लोक में अनेक मार्गों से फैला, जिस प्रकार शिव की जटाओं से छूटकर शुभ्र गंगाजल तीनों लोकों को पवित्र करता हुआ फैला है।

गंगा और यमुना के बीच की पवित्र अंतर्वेदी गुप्त-साम्राज्य की एक भुक्ति बनी। गंगा के साथ गुप्त-साम्राज्य का एक प्रकार से अभेद संबंध हो गया। पुराणों में गुप्त-राज्य के विस्तार को गंगा के भूगोल द्वारा ही प्रकट किया गया है—

> अनुगंगा प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
> एतान्जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥ (वायुपुराण)

इनमें मगध और प्रयाग गंगा के ही कूलवर्ती जनपद हैं। साकेत कोशल जनपद का प्रतीक है। और 'अनुगंगा' पद से गंगा के तटवर्ती उन जनपदों का आशय ज्ञात होता है जो प्रयाग और हरिद्वार के बीच में थे—विशेषतः पांचाल जनपद और कुरु जनपद के कुछ भाग, जहाँ से समुद्र गुप्त ने मतिल, अच्युत तथा अन्य राजाओं का उन्मूलन किया था।

एक प्रकार से गंगा गुप्तों के विजित अथवा स्वराष्ट्र का प्रतीक ही बन गई। इस संबंध में समुद्र गुप्त की 'व्याघ्रपराक्रम' चलन की स्वर्णमुद्रा* विशेष ध्यान देने योग्य है। इसके एक ओर धनुर्धर सम्राट् कर्णांत प्रत्यंचा को खींचकर व्याघ्र का शिकार कर रहे हैं, और दूसरी ओर भगवती गंगा बाएँ हाथ में सनाल कमल लिए हुए करिमकर के वाहन पर खड़ी हुई हैं। यह सिक्का साभिप्राय ज्ञात होता है। इसकी ये दो विशेषताएँ सम्राट् की वंग-विजय को सूचित करती हैं, जब कि बलपूर्वक वंगदेशीय राजाओं को उखाड़कर गंगा के स्रोतों के बीच में उसने अपने यश के जयस्तंभ स्थापित किए। गंगा-सिंधु-संगम अर्थात् समतट की विजय का निश्चित उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में है। ज्ञात होता है कि इस विजय के स्मारक रूप में ही 'व्याघ्र-पराक्रम' मुद्रा चालू हुई। एक प्रकार से गंगासागर से लेकर गंगाद्वार तक गंगा का दीर्घ आयाम गुप्त साम्राज्य का दृढ़ मेरुदंड बन गया।

तत्कालीन भौगोलिक परिभाषा में गंगा से परिवेष्टित यह प्रदेश आर्यावर्त अथवा मध्यदेश इस नाम से विख्यात था। गुप्तों के वरद प्रसाद से मध्यदेश की संस्कृति नए वर्ण से चमक उठी। यहाँ के स्फीत जनपद धन-धान्य से परिपूर्ण हो गए। विद्या और चरित्र में, धर्म और कला में मध्यदेश की कीर्ति दिग्दिगंत में फैल गई। उस युग में चारों ओर मध्यदेश के प्रति जो श्रद्धामयी भावना जाग्रत् हुई, उसका आभास सामयिक साहित्य में प्राप्त होता है। काश्मीर राज्य के गिलगिट स्थान से प्राप्त प्राचीन संस्कृत विनयपिटक की हस्तलिखित प्रति में मध्यदेश के विषय में निम्नलिखित श्रद्धास्पद वर्णन प्राप्त होता है। मध्यदेश का एक माणव विद्याध्ययन के लिये दक्षिणापथ में गया था। वहाँ अनध्याय के दिन सहपाठियों में यह चर्चा उठी कि कौन कहाँ से आया है। उस विद्यार्थी ने कहा—"मैं मध्यदेश से आया हूँ।" इस पर उन्होंने कहा—

---

* ऐलन : गुप्तमुद्रासूची, 'व्याघ्रपराक्रम' चलन की मुद्रा (टाइगर टाइप), भूमिका, पृ० ७४ तथा पृ० १७; फलक २, चित्र १४। इस सिक्के के अभी तक केवल चार उदाहरण मिले हैं।

"सब देश तो हमने देखे और सुने हैं, पर मध्यदेश नहीं देखा। हे माणव, कैसा वह मध्यदेश है ?" उसने उत्तर दिया—

मध्यदेशो भवंतो देशानामग्रः।

इक्षुशालिगोमहिषीसंपन्नो भैक्षुकशतकलिलो दस्युजनविवर्जित आर्यजनाकीर्णो विद्वज्जननिषेवितः।

यत्र नदी गंगा पुण्या मंगल्या शुचिशौचेयसंमता, उभयतः कूलान्यभिष्यंदयमाना आवहति। अष्टादशवक्रोनाम ऋषीणामग्रपदः।

यत्र ऋषयः तपश्चर्यया स्वशरीरं स्वर्गं कामयमानाः।

'हे मित्रो, मध्यदेश सब देशों में अग्रस्थानीय है।

'वह ईख और धान के खेतों से संपन्न तथा गोधन और भैंसों से भरा-पुरा है। उसमें अनेक भिक्षुओं के समूह विचरते हैं। वहाँ दस्युओं का नाम नहीं, सर्वत्र आर्यजन विद्यमान हैं, और विद्वज्जन निवास करते हैं।

'जहाँ अपने दोनों तटों के जनपदों को सींचती हुई मंगलकारिणी, पवित्र, समस्त पावन वस्तुओं में सम्मान्य गंगा नदी बहती है, वह मध्यदेश है; जहाँ के प्रसिद्ध अष्टावक्र ऋषि समस्त ऋषियों में अग्रस्थानीय हुए हैं।

'जहाँ तपश्चरण के प्रति ऋषियों में इतना उत्साह था कि वे इसी शरीर से स्वर्ग प्राप्त कर लेना चाहते थे, वह मध्यदेश है।'

मध्यदेश के इस तत्कालीन रोचनात्मक वर्णन में गंगा का इस भूमि के साथ विशेष संबंध बताया गया है, मानो उस समय गंगा इस प्रदेश को व्यक्त करने का एक प्रतीक बन गई थी। दोनों के इस पारस्परिक संबंध के आधार पर उदयगिरि की गुफा में मध्यदेश का एक विलक्षण भौगोलिक चित्रण किया गया है। यह उत्तम शिल्प-कृति मध्यभारत की उदयगिरि गुफा की विशाल वराहमूर्ति के पार्श्व में अंकित है। इसमें गंगा और यमुना के अवतरण, प्रयागराज में उनके संगम और सिंधु- सम्मिलन की परिभाषा के द्वारा मध्यदेश का मूर्त रूप खड़ा किया गया है।

इस दृश्य का जो रेखाचित्र यहाँ प्रकाशित है, उसमें दाहिनी ओर यमुना की धारा और बाईं ओर गंगा की धारा है। ऊपर बीच में एक

देवांगना इन दो धाराओं के प्रकट होने पर अंजलिमुद्रा में अपनी श्रद्धा प्रकट कर रही है। उसके नीचे गंगा और यमुना के जन्म का महोत्सव—गुप्तकालीन परिभाषा में 'जातिमह'—अंकित है। इसमें छ: स्त्रियाँ नृत्य और गीत का प्रदर्शन कर रही हैं। बीच में एक स्त्री नृत्य कर रही है और शेष सप्ततंत्री वीणा, वंशी, मृदंग और कांस्यताल बजा रही हैं। विशिष्ट जन्म-उत्सव के अंकन में संगीत का इस प्रकार प्रदर्शन भारतीय-कला की प्राचीन परिपाटी थी। भारहुत में भी बुद्धजन्म के उपलक्ष में देवों का 'सम्मद' या हर्ष-प्रदर्शन अंकित किया गया है।

संगीतात्मक दृश्य के नीचे बाईं ओर की वारिधारा में मकर वाहन पर खड़ी हुई गंगा की मूर्ति है, और दाहिनी जल-धारा में पूर्ण घट लिए हुए कच्छप वाहन पर यमुना खड़ी हैं। दोनों पूर्वाभिमुख हैं। स्त्री-रूप में गंगा और यमुना की कल्पना सब से पहले गुप्त शिल्पकला में ही पाई जाती है। महाकवि कालिदास ने अपने युग की इस कलात्मक विशेषता का निश्चित शब्दों में उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि शिव की वरयात्रा में गंगा और यमुना मूर्त रूप धारण करके हाथ में चँवर लिए हुए उनकी सेवा करने लगीं—

मूर्ते च गंगायमुने तैदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।

(कुमारसंभव ७।४२)

कवि के उल्लेख का समर्थन गुप्तकालीन मंदिरों के द्वारस्तंभों पर चित्रित गंगा और यमुना की मूर्तियों से होता है, जिसका एक विशिष्ट उदाहरण देवगढ़ के दशावतार मंदिर में है। गंगा और यमुना के मूर्त रूप के बाद प्रयागराज में उनके संगम का दृश्य अंकित है। गुप्तकाल में प्रयाग साम्राज्य की शक्ति का प्रधान केंद्र था। संगम पर ही समुद्रगुप्त ने साम्राज्य-संस्थापन रूप अपने पराक्रम की प्रशस्ति को उत्कीर्ण कराया। महाकवि कालिदास ने अपने युग की इन उदात्त भावनाओं को संगम की भव्य प्रशस्ति (रघुवंश १३।५४-५७) लिखकर अमर किया है।

मध्यदेश के इस मूर्त चित्रण में संगम के बाद नीचे की ओर बहुत अधिक जलराशि दिखाई गई है। उसके बीच में एक सुंदर पुरुष की मूर्ति पात्र से अर्घ्य देती हुई खड़ी है। इस मूर्ति का उदार नेपथ्य अत्यंत आकर्षक है। बाहुओं में केयूर और प्रकोष्ठ वलय, गले में हार तथा कानों में कुंडल हैं। धोती और उत्तरीय दोनों के पहनने का ढंग कुषाण-कालीन है। सिर पर पत्राकृति मुकुट भी कुषाण शैली का सूचक है। अतएव यह मूर्ति प्रारंभिक गुप्त-युग अर्थात् समुद्र गुप्त के राज्यकाल (वि० तीसरी शती) में बनी हुई जान पड़ती है।

अपार जलराशि के मध्य में स्थित इस पुरुष-मूर्ति की पहचान आसानी से की जा सकती है। यह स्वयं समुद्र की प्रतिमा है जिसमें गंगा और यमुना की सम्मिलित जलधाराएँ मिली हैं। स्त्रीरूप में गंगा और यमुना की मूर्ति, प्रयागराज में उनका सम्मिलन और पुरुषविग्रह में समुद्र की अपार जलराशि—ये तीन सूत्र इस दृश्य में जान डाल रहे हैं। सौभाग्य से इनकी व्याख्या कालिदास के एक ही श्लोक में एकत्र मिल जाती है, जिसे महाकवि ने संगम-प्रशस्ति के ठीक बाद कहा है। यथा—

समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबंधः॥

(रघुवंश १३।५८)

समुद्र, उसकी दोनों पत्नियाँ और उनके जलों का सम्मिलन—इन तीन शब्दों के कविनिर्मित सूत्र में उदयगिरि के दृश्य की पूरी व्याख्या मिल जाती है। इस प्रकार यह चित्र समुद्र से हिमालय तक विस्तीर्ण मध्यदेश या आर्यावर्त की भौगोलिक सीमाओं को और आर्य समुद्रगुप्त के साम्राज्य के साथ उनके संबंध को इतने सुंदर और काव्यमय ढंग से प्रकट करता है कि उसकी सार्थक तुलना में तत्कालीन अन्य कोई शिल्प-कृति नहीं ठहरती।

इसी दृश्य को एक और कड़ी उसी गुफा में पास बनी हुई वराह मूर्ति के द्वारा पृथिवी के उद्धार का चित्रण है। वराह की दंतकोटि पर स्त्रीरूप में

पृथिवी की एक मूर्ति बनी हुई है। किसी पूर्व युग में आदिवराह ने रसातल से पृथिवी का उद्वहन किया था। अब उसी के सदृश विक्रम करनेवाले गुप्त सम्राटों ने अराजकता के जलार्णव में डूबी हुई जिस पृथिवी का उद्धार किया वह यही गंगा-यमुना की अंतर्वेदी या मध्यदेश की भूमि थी जिसको शिल्प में मूर्तरूप दिया गया है। निस्संदेह उदयगिरि की गुफा का यह शिल्पांकन न केवल गुप्तकला वरन् भारतीय कला में भी अभूतपूर्व है।

पृथिवीसूक्त—एक अध्ययन

[लेखक—पृथिवीपुत्र]

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः

अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त (१२।१।१-६३) में मातृभूमि के प्रति भारतीय भावना का सुंदर वर्णन पाया जाता है। मातृभूमि के स्वरूप और उसके साथ राष्ट्रीय जन की एकता का जैसा वर्णन इस सूक्त में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन मंत्रों में पृथिवी की प्रशस्त वंदना है, और संस्कृति के विकास तथा स्थिति के जो नियम हैं उनका अनुपम विवेचन भी है। सूक्त की भाषा में अपूर्व तेज और अर्थवत्ता पाई जाती है। स्वर्ण का परिधान पहने हुए शब्दों को कवि ने श्रद्धापूर्वक मातृभूमि के चरणों में अर्पित किया है। कवि को भूमि सब प्रकार से महती प्रतीत होती है, 'सुमनस्यमाना' कहकर वह अपने प्रति भूमि की अनुकूलता को प्रकट करता है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिये मन के वात्सल्य भाव से दुग्ध का विसर्जन करती है उसी प्रकार दूध और अमृत से परिपूर्ण मातृभूमि अनेक पयस्वती धाराओं से राष्ट्र के जन का कल्याण करती है। कल्याण-परंपरा की विधात्री मातृभूमि के स्तोत्र-गान और वंदना में भावों के वेग से कवि का हृदय उमँग पड़ता है। उसकी दृष्टि में यह भूमि कामदुघा है। हमारी समस्त कामनाओं का दोहन भूमि से इस प्रकार होता है जैसे अडिग भाव से खड़ी हुई धेनु दूध की धाराओं से पन्हाती है। कवि की दृष्टि में पृथिवीरूपी सुरभि के स्तनों में अमृत भरा हुआ है। इस अमृत को पृथिवी की आराधना से जो पी सकते हैं वे अमर हो जाते हैं। मातृभूमि की पोषण-शक्ति कितनी अनंत है? वह विश्वंभरा है। उसके विश्वगायत (२७)* रूप को प्रणाम है।

मातृभूमि का हृदय—स्थूल नेत्रों से देखनेवालों के लिये यह पृथिवी शिलाभूमि और पत्थर-धूलि का केवल एक जमघट है। किंतु जो मनीषी हैं, जिनके पास ध्यान का बल है, वे ही भूमि के हृदय को देख पाते हैं। उन्हीं के लिये मातृभूमि का अमर रूप प्रकट होता है। किसी देवयुग में वह भूमि

* कोष्ठक के अंक सूक्तांतर्गत मंत्रों के अंक हैं।

सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। जब मनीषियों ने ध्यानपूर्वक इसका चिंतन किया, तब उनके ऊपर कृपावती होकर यह प्रकट हुई। केवल मन के द्वारा ही पृथिवी का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। ऋषि के शब्दों में मातृभूमि का हृदय परम व्योम में स्थित है। विश्व में ज्ञान का जो सर्वोच्च स्रोत है, वहीं यह हृदय है। यह हृदय सत्य से घिरा हुआ और अमर है (यस्याः हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः)। हमारी संस्कृति में सत्य का जो प्रकाश है उसका उद्गम मातृभूमि के हृदय से ही हुआ है। सत्य अपने प्रकट होने के लिये धर्म का रूप ग्रहण करता है। सत्य और धर्म एक हैं। पृथिवी धर्म के बल से टिकी हुई है (धर्मणा धृता)। महासागर से बाहर प्रकट होने पर जिस तत्त्व के आधार पर यह पृथिवी आश्रित हुई, कवि की दृष्टि में वह धारणात्मक तत्त्व धर्म है। इस प्रकार के धारणात्मक महान् धर्म को पृथिवी के पुत्रों ने देखा और उसे प्रणाम किया—नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः (महाभारत, उद्योगपर्व)। सत्य और धर्म ही ऐतिहासिक युगों में मूर्तिमान् होकर राष्ट्रीय संस्कृति का रूप ग्रहण करते हैं। संस्कृति का इतिहास सत्य से भरे हुए मातृभूमि के हृदय की ही व्याख्या है। जिस युग में सत्य का रूप विक्रम से संयुक्त होकर सुनहले तेज से चमकता है, वही संस्कृति का स्वर्णयुग होता है। कवि की अभिलाषा है—'हे मातृभूमि, तुम हिरण्य के संदर्शन से हमारे सामने प्रकट हो। तुम्हारी हिरण्मयी प्ररोचना को हम देखना चाहते हैं' (सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि, १८)। राष्ट्रीय महिमा की नाप यही है कि युग की संस्कृति में सुवर्ण की चमक है या चाँदी और लोहे की। हिरण्यसंदर्शन या स्वर्णयुग ही संस्कृति की स्थायी विजय के युग हैं।

पुराकाल में मनीषी ऋषियों ने अपने ध्यान की शक्ति से मातृभूमि के जिस रूप को प्रत्यक्ष किया था, वह प्राप्तिकरण का अध्याय अभी तक जारी है। आज भी चिंतन से युक्त मनीषी लोग नए नए क्षेत्रों में मातृभूमि के हृदय के नूतन सौंदर्य, नवीन आदर्श और अछूते रस का आविष्कार किया करते हैं। जिस प्रकार सागर के जल से बाहर पृथिवी का स्थूल रूप प्रकाश में आया, उसी प्रकार विश्व में व्याप्त जो ऋत है, उसके अमूर्त भावों को मूर्त रूप में

प्रकट करने की प्रक्रिया आज भी जारी है। दिलीप के गोचारण की तरह मातृभूमि के ध्यानी पुत्र उसके हृदय के पीछे चलते हैं (यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः, १८); और उसकी आराधना से अनेक नए वरदान प्राप्त करते हैं। यह विश्व ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ कहा गया है। ऊर्ध्व के साथ ही पृथिवी के हृदय का संबंध है। इसी कारण मातृभूमि के साथ तादात्म्यभाव की प्राप्ति ऊर्ध्वस्थिति या अध्यात्मसाधना का रूप है। भारतीय दृष्टि से मातृभूमि का प्रेम और अध्यात्म, इन दोनों का यही समन्वय है।

मातृभूमि का स्थूल विश्वरूप—पृथिवी का जो स्थूल रूप है, वह भी कुछ कम आकर्षण की वस्तु नहीं है। भौतिक रूप में श्री या सौंदर्य का दर्शन नेत्रों का परम लाभ है और उसका प्रकाश एक दिव्य विभूति है। इस दृष्टि से जब कवि विचार करता है तो उसे पृथिवी पर प्रत्येक दिशा में रमणीयता दिखाई पड़ती है (आशामाशां रण्याम्, ४३)। वह पृथिवी को विश्वरूपा कहकर संबोधित करता है। पर्वतों के उष्णीष से सज्जित और सागरों की मेखला से अलंकृत मातृभूमि के पुष्कल स्वरूप में कितना सौंदर्य है? विभिन्न प्रदेशों में पृथक् पृथक् शोभा की कितनी मात्रा है?—इसको पूरी तरह पहचान कर प्रसिद्ध करना राष्ट्रीय पराक्रम का आवश्यक अंग है। प्राकृतिक शोभा के स्थलों से जितना ही हम अधिक परिचित होते हैं, मातृभूमि के प्रति उतना ही हमारा आकर्षण बढ़ता है। भूमि के स्थूल रूप को श्री को देखने के लिये हमारे नेत्रों का तेज सौ वर्ष तक बढ़ता रहे, और उसके लिये हमें सूर्य की मित्रता प्राप्त हो (३३)।

चारों दिशाओं में प्रकाशित मातृभूमि के चतुरस्रशोभी शरीर को जाकर देखने के लिये हमारे पैरों में संचरणशीलता होनी चाहिए। चलने से ही हम दिशाओं के कल्याणों तक पहुँचते हैं (स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु, ३१)। जिस प्रदेश में जनता की पदपंक्ति पहुँचती है, वही तीर्थ बन जाता है। पद-पंक्तियों के द्वारा ही मातृभूमि के विशाल जनायन पंथों का निर्माण होता है, और यात्रा के बल से ही रथों के वर्त्म और शकटों के मार्ग भूमि पर बिछते हैं (ये ते पन्था बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे, ४७)। चंक्रमण के प्रताप से पूर्व और पश्चिम में तथा उत्तर और दक्षिण में पथों का

नाड़ीजाल फैल जाता है। पर्वतों और महाकांतारों की भूमियाँ युवकों के पद-संचार से परिचित होकर सुशोभित होती हैं; 'चारिकं चरित्वा' का व्रत धारण करनेवाले चरक-स्नातक पुरों और जनपदों में ज्ञान-मंगल करते हैं और मातृभूमि की समग्र शोभा का आविष्कार करते हैं।

आरंभिक भू-प्रतिष्ठा के दिन हमारे पूर्वजों ने मातृभूमि के स्वरूप का घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया था। उसके उन्नत प्रदेश, निरंतर बहनेवाली जलधाराएँ और हरे-भरे समतल मैदान,—इन्होंने अपनी रूप-संपदा से उनको आकृष्ट किया (यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु, २)। छोटे गिरि-जाल और हिमराशि का श्वेत मुकुट बाँधे हुए महान् पर्वत पृथिवी को टेके हुए खड़े हैं। उनके ऊँचे शृंगों पर शिलीभूत हिम, अधित्यकाओं में सरकते हुए हिमश्रथ या बर्फानी गल, उनके मुख या बाँक से निकलनेवाली नदियाँ और तटांत में बहनेवाली सहस्रों धाराएँ, पर्वतस्थली और द्रोणी, निर्झर और झूलती हुई नदी की तलहटियाँ, शैलों के दारण से बनी हुई दरी और कंदराएँ, पर्वतों के पार जानेवाले जोत और घाटे—इन सब का अध्ययन भौमिक चैतन्य का एक आवश्यक अंग है। सौभाग्य से विश्वकर्मा ने जिस दिन अपनी हवि से हमारी भूमि की आराधना की, उस दिन ही उसमें पर्वतीय अंश पर्याप्त मात्रा में रख दिया था। भूमि का तिलक करने के लिये मानो विधाता ने सबसे ऊँचे पर्वत-शिखर को स्वयं उसके मुकुट के समीप रखना उचित समझा। इतिहास साक्षी है कि इन पर्वतों पर चढ़कर हमारी संस्कृति का यश हिमालय के उस पार के प्रदेशों में फैला। पर्वतों की सूक्ष्म छानबीन भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता रही है, जिसका प्रमाण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि देवयुगों में पर्वत सागर के अंतस्तल में सोते थे। तृतीयक युग (Tertiary Era) के आरंभ में लगभग चार करोड़ वर्ष पूर्व भारतीय भूगोल में बड़ी चकनाचूर करनेवाली घटनाएँ घटीं। बड़े बड़े भू-भाग बिलट गए, पर्वतों की जगह समुद्र और समुद्र की जगह पर्वत प्रकट हो गए। उसी समय हिमालय और कैलाश भूगर्भ से बाहर आए। उससे पूर्व हिमालय में एक समुद्र या पाथोधि था, जिसे वैज्ञानिक 'टेथिस्' का नाम

देते हैं। जो हिमालय इस अर्णव के नीचे छिपा था, उसे हम अपनी भाषा में पाथोधि हिमालय (=टेथिस हिमालय) कह सकते हैं। जब से पाथोधि हिमालय का जन्म हुआ, तभी से भारत का वर्तमान रूप या ठाट स्थिर हुआ। पाथोधि हिमालय और कैलाश के जन्म की कथा और चट्टानों के ऊपर-नीचे जमे हुए परतों को खोलकर इन शैल-सम्राटों के दीर्घ आयुष्य और इतिहास का अध्ययन जिस प्रकार पश्चिमी विज्ञान में हुआ है, उसी प्रकार इस शिलीभूत पुरातत्त्व के रहस्य का उद्घाटन हमारे देशवासियों को भी करना आवश्यक है। हिमालय के दुर्धर्ष गंड-शैलों को चीरकर यमुना, जाह्नवी, भागीरथी, मंदाकिनी और अलकनंदा ने केदारखंड में, तथा सरयू-काली-कर्णाली ने मानसखंड में करोड़ों वर्षों के परिश्रम से पर्वतों के दले हुए गंगलोढ़ों को पीस पीसकर महीन किया है। उन नदियों के विक्रम के वार्षिक ताने-बाने से यह हमारा विस्तृत समतल प्रदेश अस्तित्व में आया है। विक्रम के द्वारा ही मातृ-भूमि के हृदयस्थानीय मध्यदेश को पराक्रमशालिनी गंगा ने जन्म दिया है। इसके लिये गंगा को जितना भी पवित्र और मंगल्य कहा जाय कम है। कवि देखता है कि अश्मा और पांसु के पारस्परिक संग्रथन से यह भूमि संधृत हुई है (भूमिः संधृता धृता, २६)। चित्र-विचित्र शिलाओं से निर्मित भूरी, काली और लाल रंग की मिट्टी पृथिवी के विश्वरूप की परिचायक है (बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिम्, ११)। यही मिट्टी वृक्ष, वनस्पति, ओषधियों को उत्पन्न करती है। इसी से पशुओं और मनुष्यों के लिये अन्न उत्पन्न होता है। मातृभूमि की इस मिट्टी में अद्भुत रसायन है। पृथिवी से उत्पन्न जो गंध है, वही राष्ट्रीय विशेषता है, और पृथिवी से जन्म लेनेवाले समस्त चराचर में पाई जाती है। मिट्टी और जल से बनी हुई पृथिवी में प्राण की अपरिमित शक्ति है। इसी लिये जिस वस्तु का और विचार का संबंध भूमि से हो जाता है वही नवजीवन प्राप्त करता है।

हमारे देश में ऊँचे पर्वत और उनपर जमी हुई हिमराशि है, वहाँ प्रचंड वेग से वायु चलती हुई उन्मुक्त वृष्टि लाती है। कवि को यह देखकर प्रसन्नता होती है कि अपने उपयुक्त समय पर धूल को उड़ाती हुई और पेड़ों को उखाड़ती हुई मातरिश्वा नामक आँधी एक ओर से दूसरी ओर को

बहती है। इस दुर्धर्ष वात के बवंडर ऊपर-नीचे जब चलते हैं, तब बिजली कड़कती है और आकाश कौंध से भर जाता है—

यस्यां वातो मातरिश्वा ईयते रजांसि कृण्वन् च्यावयंश्च वृक्षान्।

वातस्य प्रवामुपवामनुवाति अर्चिः, ५१।

जिस देश का आकाश तडित्वंत मेघों से भरता है वहाँ भूमि वृष्टि से ढक जाती है—

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता, ५२।

प्रतिवर्ष संचित होनेवाले मेघजालों के उपकार का स्मरण करते हुए कवि ने पर्जन्य को पिता (१२) और भूमि को पर्जन्यपत्नी (४२) कहा है।

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे।

'पर्जन्य की पत्नी भूमि को प्रणाम है, जिसमें वृष्टि मेद की तरह भरी है।' मेघों की यह वार्षिक विभूति जहाँ से प्राप्त होती है, उन समुद्र और सिंधुओं का भी कवि को स्मरण है। अन्न से लहलहाते हुए खेत, बहनेवाले जल और महासागर इन तीनों का घनिष्ठ संबंध है (यस्यां समुद्र उत सिंधुरापो यस्यामन्नम् कृष्टयः संबभूवुः, ३)। दक्षिण के गर्जनशील महासागरों के साथ हमारी भूमि का उतना ही अभिन्न संबंध समझना चाहिए जितना कि उत्तर के पर्वतों के साथ। ये दोनों एक ही धनुष की दो कोटियाँ हैं। इसी लिये रमणीय पौराणिक कल्पना में एक सिरे पर शिव और दूसरे पर पार्वती हैं। धनुष्कोटि के समीप ही महोदधि और रत्नाकर के संगम की अधिष्ठात्री देवी पार्वती कन्याकुमारी के रूप में आज भी तप करती हुई विद्यमान हैं।

कुमारिका से हिमालय तक फैले हुए महाद्वीप में निरंतर परिभ्रम करती हुई देश की नदियों और महानदियों की ओर सबसे पहले हमारा ध्यान जाता है। इस सूक्त में कवि ने नदियों के संतत विक्रम का अत्यंत उत्साह से वर्णन किया है—

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयोदुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ९

'जिसमें गतिशील व्यापक जल रात दिन बिना प्रमाद और आलस्य के बह रहे हैं, वह भूमि उन अनेक धाराओं को हमारे लिये दूध में परिणत करे

और हमको वर्चस् से सींचे।' कवि की वाणी सत्य है। मेघों से और नदियों से प्राप्त होनेवाले जल खेतों में खड़े हुए धान्य के शरीर या पौधों में पहुँचकर दूध में बदल जाते हैं, और वह दूध ही गाढ़ा होकर जो, गेहूँ और चावल के दानों के रूप में जम जाता है। खेतों में जाकर यदि हम अपने नेत्रों से इस क्षीरसागर का प्रत्यक्ष देखें तो हमें विश्वास होगा कि हमारे धन-धान्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी इसी क्षीरसागर में बसती है। यही दुग्ध अन्नरूप से मनुष्यों में प्रविष्ट होकर वर्चस् और तेज को उत्पन्न करता है। कवि की दृष्टि में पृथिवी के जल विश्वव्यापी (समानी, ९) हैं। आकाशस्थित जलों से ही पार्थिव जल जन्म लेते हैं। हिमालय की चोटियों पर और गंगा में उतरने से पूर्व गंगा के दिव्य जल आकाश में विचरते हैं। वहाँ पार्थिव सीमाभाव की लकीरें उनमें नहीं होतीं। कौन कह सकता है कि किस प्रकार पृथिवी पर आने से पूर्व आकाश में स्थित जल हिमालय के और कैलाश के शृंगों की कहाँ-कहाँ परिक्रमा करते हैं? भारतीय कवि गंगा के स्रोत को ढूँढ़ते हुए चतुर्गंगम् और सप्तगंगम् धाराओं से कहीं ऊपर उठकर उन दिव्य जलों* तक पहुँचकर गंगा का प्रभव-स्थान मानते हैं। उनके व्यापक दृष्टिकोण के सम्मुख स्थूल पार्थक्य के भाव नहीं ठहरते।

भूमि के पार्थिव रूप में उसके प्रशंसनीय अरण्य भी हैं। कृषि-संपत्ति और वन-संपत्ति, वनस्पति जगत् के ये दो बड़े विभाग हैं। यह पृथिवी दोनों की माता है। एक ओर इसके खेतों में अथक परिश्रम करनेवाले (क्षेत्रे यस्या विकुर्वते, ४३) इसके बलिष्ठ पुत्र भाँति भाँति के व्रीहि-यवादिक अन्नों को उत्पन्न करते हैं (यस्यामन्नं व्रीहियवौ, ४२) और लहलहाती हुई खेती (कृष्टयः ३) को देखकर हर्षित होते हैं, तथा दूसरी ओर वे जंगल और कांतार हैं जिनमें अनेक प्रकार की वीर्यवती ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं (नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति, २)। यह पृथिवी साक्षात् ओषधियों की माता है, (विश्वस्वम् मातरमोषधीनाम्, १७)। वर्षा ऋतु में जब जल से भरे हुए मेघ आकाश में गरजते हैं तब ओषधियों की बाढ़ से पृथिवी का शरीर ढक जाता है। उस विचित्र वर्ण के कारण पृथिवी की एक संज्ञा पृश्नि कही गई है।

* एरियल वाटर्स।

वे ओषधियाँ षट् ऋतुओं के चक्र में परिपक्व होकर जब मुरझा जाती हैं तब उनके बीज फिर पृथिवी में ही समा जाते हैं। पृथिवी उन बीजों को सँभालकर रखनेवाली धात्री है (गृभिः ओषधीनाम्, ५७)। समतल मैदान और हिमालय आदि पर्वतों के उत्संग में स्वच्छंद हवा और खुले आकाश के नीचे वातातपिक जीवन बितानेवाली इन असंख्य ओषधियों की इयत्ता कौन कह सकता है? इंद्रधनुष के समान सात रंग के पुष्पों से खिलकर सूर्य की धूप में हँसते हुए जब हम इन्हें देखते हैं तब हमारा हृदय आनंद से भर जाता है। शंखपुष्पी का छोटा सा हरित तृण श्वेत पुष्प का मुकुट धारण किए हुए जहाँ विकसित होता है वहाँ धूप में एक मंगल सा जान पड़ता है। ब्राह्मी, रुद्रवंती, स्वर्णक्षीरी, सौपर्णी, शंखपुष्पी, इनके नामकरण का जो मनोहर अध्याय हमारे देश के निघंटु-वेत्ताओं ने आरंभ किया था, उसकी कला अद्वितीय है। एक एक ओषधि के पास जाकर उसके मूल और कांड से, पत्र और पुष्प से, केसर और पराग से उसके जीवन का परिचय और कुशल पूछकर उसके लिये भाषा के भंडार में से एक भव्य सा नाम चुना गया। इन ओषधियों में जो गुण भरे हुए हैं उनके साथ हमारे राष्ट्र को फिर से परिचित होने की आवश्यकता है।

वृक्ष और वनस्पति पृथिवी पर ध्रुव भाव से खड़े हैं (यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा, २७)। यों देखने में प्रत्येक की आयु काल से परिमित है; किंतु उनका बीज और उनकी नस्ल हमेशा जीवित रहती हैं। यही उनका पृथिवी के साथ स्थायी संबंध है। करोड़ों वर्षों से विकसित होते हुए वनस्पति-जगत् के ये प्राणी वर्तमान जीवन तक पहुँचे हैं, और इसके आगे भी ये इसी प्रकार बढ़ते और फूलते-फलते रहेंगे। इसी भूमि पर उन्नत भाव से खड़े हुए जो महावृक्ष हैं उनको यथार्थतः वन के अधिपति या वानस्पत्य नाम दिया जा सकता है। देवदारु और न्यग्रोध, आम्र और अश्वत्थ, उदुंबर और शाल—ये अपने यहाँ के कुछ महाविटप हैं। महावृक्षों की पूजा और उनको उचित सम्मान देना हमारा परम कर्तव्य है। जहाँ महावृक्षों को आदर नहीं मिलता वहाँ के अरण्य क्षीण हो जाते हैं। सौ फुट ऊँचे और तीस फुट घेरेवाले अत्यंत प्रांशु केदार और देवदारुओं को हिमालय के

उत्संग में देखकर जिन लोगों ने श्रद्धा के भाव से उन वनस्पतियों को शिव के पुत्र के रूप में देखा, वे सचमुच जानते थे कि वनस्पति-संसार कितने ऊँचे सम्मान का अधिकारी है। स्वयं शिव ने केदारों का स्वामित्व स्वीकार किया आज अनवधान के कारण हम अपने इन वानस्पत्यों को देखना भूल गए हैं। तभी हम उस मालझन लता की शक्ति से अनभिज्ञ हैं जो सौ-सौ फुट ऊँचे उठकर हिमालय के बड़े बड़े वृक्षों को अपने बाहुपाश में बाँध लेती है। आज वनस्पति-जगत् के प्रति 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' के प्रश्नों के द्वारा हमें अपने चैतन्य को फिर से झकझोरने की आवश्यकता है। जहाँ फूले हुए शालवृक्षों के नीचे विद्धशालभंजिका की क्रीडाओं का प्रचार किया गया, जहाँ उद्दीयमान नारी-जीवन के सरस मन से वनस्पति-जगत् को तरंगित करने के लिये अशोक-दोहद जैसे विनोद कल्पित किए गए, वहाँ मनुष्य और वनस्पति-जगत् के सख्य-भाव को फिर से हरा-भरा बनाने की आवश्यकता है। पुष्पों की शोभा वनश्री का एक विलक्षण ही शृंगार होता है। देश में पुष्पों के संभार से भरे हुए अनेक वन-खंड और वाटिकाएँ हैं। कमल हमारे सब पुष्पों में एक निराली शोभा रखता है। वह मातृभूमि का प्रतीक ही बन गया है। इसी लिये पुष्पों में कवि ने कमल का स्मरण किया है। वह कवि कहता है—हे भूमि, तुम्हारी जो गंध कमल में बसी हुई है (यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश, २४), उस सुगंध से मुझे सुरभित करो।

इस पृथ्वी पर द्विपद और चतुष्पद (पशु-पक्षी) दोनों ही निवास करते हैं। आकाश की गोद में भरे हुए हंस और सुपर्ण व्योम को प्राणमय बनाते हैं (यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि, ५१)। प्रतिवर्ष मानसरोवर की यात्रा करनेवाले हमारे हंसों के पंख कितने सशक्त हैं। आकाश में वज्र की तरह टूटनेवाले दृढ़ और बलिष्ठ सुपर्णों को देखकर हमें प्रसन्नता होनी चाहिए। मनुष्यों के लिये भी जो वन अगम हैं उनमें पशु और पक्षी चहल-पहल रखते हैं। उनके सुरीले कंठ और सुंदर रंगों को देखकर हमें शब्द और रूप की अपूर्व समृद्धि का परिचय प्राप्त होता है।

भूमि पर रहनेवाली पशु-संपत्ति भी भूमि के लिये उतनी ही आवश्यक है जितना कि स्वयं मनुष्य। कवि की दृष्टि में यह पृथिवी गौओं और अश्वों का

बहुविध स्थान है (गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा, ५)। देश में जो गोधन है, उसकी जो नस्लें सहस्रों वर्षों से दूध और घी से हमारे शरीरों को सींचती आई हैं उनके अध्ययन, रक्षा और उन्नति में दत्तचित्त होना राष्ट्रीय कर्तव्य है। गोधन के जीर्ण होने से जनता के अपने शरीर भी क्षीण हो जाते हैं। गौओं के प्रति अनुकूलता और सौमनस्य का भाव मानुषी शरीर के प्रत्येक अणु को अन्न और रस से तृप्त रखता है। सिंधु, कंबोज और सुराष्ट्र के जो तुरंगम दीर्घ युगों तक हमारे साथी रहे हैं उनके प्रति उपेक्षा करना हमें शोभा नहीं देता। इस देश के साहित्य में अश्वसूत्र और हस्तिसूत्र की रचना बहुत पहले हो चुकी थी। पश्चिमी एशिया के अमरना स्थान में आचार्य किक्कुलि का बनाया हुआ अश्व-शास्त्र संबंधी एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, जो विक्रम से भी पंद्रह शताब्दी पूर्व का है। इसमें घोड़ों की चाल और कुदान के बारे में एकावर्तन, त्र्यावर्तन, पंचावर्तन, सप्तावर्तन सदृश अनेक संस्कृत शब्दों के रूपांतर प्रयुक्त हुए हैं।

जो व्याघ्र और सिंह कांतारों की गुफाओं में निर्द्वंद्व विचरते हैं, उनकी ओर भी कवि ने ध्यान दिया है। यह पृथिवी वनचारी शूकर के लिये भी खुली है, सिंह और व्याघ्र जैसे पुरुषाद आरण्य पशु यहाँ शौर्य-पराक्रम के उपमान बने हैं (४९)। पशु और पक्षी किस प्रकार पृथिवी के यश को बढ़ाते हैं इसका इतिहास साक्षी है। भारतवर्ष के मयूर प्राचीन बावेरु (बेबीलन) तक जाते थे (बावेरुजातक)। प्राचीन केकय देश (आधुनिक शाहपुर-झेलम) के राजकीय अंतःपुर में कराल दाढ़ोंवाले महाकाय कुत्तों की एक नस्ल व्याघ्रों के वीर्य-बल से तैयार होती थी, जिसकी कीर्ति यूनान और रोम तक प्राचीन काल में पहुँची थी। लैम्सकस से प्राप्त भारत-लक्ष्मी की चाँदी की तश्तरी पर इस बघेरी नस्ल के कुत्तों का चित्रण पाया जाता है। कुत्तों की यह भीम जाति आज भी जीवित है और राष्ट्रीय कुशल-प्रश्न और हाथ में भाग पाने के लिये उत्सुक है। विषैले सर्प और तीक्ष्ण डंकवाले बिच्छू हेमंत ऋतु में सर्दी से ठिठुरकर गुम-सुम बिलों में सोए रहते हैं। ये भी पृथिवी के पुत्र हैं। जितनी लखचौरासी वर्षा ऋतु में उत्पन्न होकर सहसा रेंगने और बढ़ने लगती है उनके जीवन से भी हमें अपने लिये कल्याण की कामना करनी है (४६)।

ऊपर कहे हुए पार्थिव कल्याणों से संपन्न मातृभूमि का स्वरूप अत्यंत मनोहर है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण, मणि-रत्न आदिक निधियों ने उसके रूप-मंडन को और भी उत्तम बनाया है। रत्नप्रसू, रत्नधात्री यह पृथिवी 'वसुधानी' है, अर्थात् सारे कोषों का रक्षा-स्थान है। उसकी छाती में अनंत सुवर्ण भरा हुआ है। हिरण्यवक्षा भूमि के इस अपरिमित कोष का वर्णन करते हुए कवि की भाषा अपूर्व तेज से चमक उठती है—

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ॥ ६ ॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

विश्व का भरण करनेवाली, रत्नों की खान, हिरण्य से परिपूर्ण, हे मातृभूमि, तुम्हारे ऊपर एक संसार हो बसा हुआ है। तुम सबकी प्राणस्थिति का कारण हो।

अपने गूढ़ प्रदेशों में तुम अनेक निधियों का भरण करती हो। रत्न, मणि और सुवर्ण की तुम देनेवाली हो। रत्नों का वितरण करनेवाली वसुधे, प्रेम और प्रसन्नता से पुलकित होकर हमारे लिये कोषों को प्रदान करो।

अटल खड़ी हुई अनुकूल धेनु के समान, हे माता, तुम सहस्रों धाराओं से अपने द्रविण का हमारे लिये दोहन करो। तुम्हारी कृपा से राष्ट्र के कोष अक्षय्य निधियों से भरे-पुरे रहें। उनमें किसी प्रकार किसी कार्य के लिये कभी न्यूनता न हो।

हिरण्यवक्षा पृथिवी के इस आभामय सुनहले रूप को कवि अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है—

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः। (२६)

पृथिवी के साथ संवत्सर का अनुकूल संबंध भी हमारी उन्नति के लिये अत्यंत आवश्यक है। कवि ने कहा है—

'हे पृथिवी, तुम्हारे ऊपर संवत्सर का नियमित ऋतुचक्र घूमता है। ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत, शिशिर और वसंत का विधान अपने अपने कल्याणों को प्रतिवर्ष तुम्हारे चरणों में भेंट करता है। धीर गति से अग्रसर होते हुए

तुम्हारे अहोरात्र नित्य नए दुग्ध का प्रस्रवण करते हैं।' पृथिवी के प्रत्येक संवत्सर की कार्यशक्ति का वार्षिक लेखा कितना अपरिमित है। उसकी दिन-चर्या और निज-वार्ता अहोरात्र के द्वारा ऋतुओं में और ऋतुओं के द्वारा संवत्सर में आगे बढ़ती है। पुनः संवत्सर उस विक्रम की कथा को महा-काल के प्रवर्तित चक्र को भेंट करता है। संवत्सर का इतिहास नित्य है। वसंत ऋतु के किस क्षण में किस पुष्प को हे पृथिवी, रंगों की तूलिका से तुम सजाती हो; और किस ओषधि में तुम्हारे अहोरात्र और ऋतुएँ अपना दुग्ध किस समय जमा करते हैं; पंख फैलाकर उड़ती हुई तुम्हारी तितलियाँ किस ऋतु में कहाँ से कहाँ जाती हैं; किस समय क्रौंच पक्षी कलरव करती हुई पंक्तियों में मानसरोवर से लौटकर हमारे खेतों में मंगल करते हैं; किस समय तीन दिन तक बहनेवाला प्रचंड फगुनहटा वृक्षों के जीर्ण-शीर्ण पत्तों को धराशायी बना देता है; और किस समय पुरवाई आकाश को मेघों की घटा से छा देती है?—इस ऋतु-विज्ञान की तुम्हारी रोमहर्षण गृहवार्ता को जानने की हममें नूतन अभिरुचि हुई है।

जन

भूमि पर जन का सन्निवेश बड़ी रोमांचकारी घटना मानी जाती है। किसी पूर्व युग में जिस जन ने अपने पद इस पृथिवी पर टेके उसी ने यहाँ भू-प्रतिष्ठा* प्राप्त की, उसी के भूत और भविष्य की अधिष्ठात्री यह भूमि है—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी। (१)

---

* भू-प्रतिष्ठा, भू-मापन, प्रारंभिक युग में भूमि पर जन के सन्निवेश की संज्ञा है जिसे अंगरेजी में लैंड-टेकिंग कहा जाता है। आइसलैंड की भाषा के अनुसार 'लैंड-टेकिंग' के लिये लैंड-नामा' शब्द है। डा० कुमारस्वामी ने ऋग्वेद को 'लैंड-नामा-बुक' कहा है, क्योंकि ऋग्वेद प्रत्येक क्षेत्र में आर्य जाति की 'भू-प्रतिष्ठा' का ग्रंथ है। पूर्वजनों के द्वारा भू-प्रतिष्ठा (पृथ्वी पर पैर टेकना) सब देशों में एक अत्यंत पवित्र घटना मानी जाती है। (देखिए कुमारस्वामी, ऋग्वेद एज लैंड-नाम-बुक, पृ० ३४)

पृथिवी पर सर्वप्रथम पैर टेकने का भाव जन के हृदय में गौरव उत्पन्न करता है। जन की ओर से कवि कहता है—मैंने अजीत, अहत और अक्षत रूप में सब से पूर्व इस भूमि पर पैर जमाया था—

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्। (११)

इस भू-अधिष्ठान के कारण भूमि और जन के बीच में एक अंतरंग संबंध उत्पन्न हुआ। यह संबंध पृथिवीसूक्त के शब्दों में इस प्रकार है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (१२)

'यह भूमि माता है, और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ।' भूमि के साथ माता का संबंध जन या जाति के समस्त जीवन का रहस्य है। जो जन भूमि के साथ इस संबंध का अनुभव करता है वही माता के हृदय से प्राप्त होनेवाले कल्याणों का अधिकारी है, उसी के लिये माता दूध का विसर्जन करती है।

सा नो भूमिर्विसृजता माता पुत्राय मे पयः। (१०)

जिस प्रकार पुत्र को ही माता से पोषण प्राप्त करने का स्वत्व है, उसी प्रकार पृथिवी के ऊर्ज या बल पृथिवीपुत्रों को ही प्राप्त होते हैं। कवि के शब्दों में—'हे पृथिवी, तुम्हारे शरीर से निकलनेवाली जो शक्ति की धाराएँ हैं उनके साथ हमें संयुक्त करो'—

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥ (१२)

पृथिवी या राष्ट्र का जो मध्यबिंदु है उसे ही वैदिक भाषा में नभ्य कहा है। उस केंद्र से युग युग में अनेक ऊर्ज या राष्ट्रीय बल निकलते हैं। जब इस प्रकार के बलों की बढ़िया आती है तब राष्ट्र का कल्पवृक्ष हरियाता है। युगों से सोए हुए भाव जाग जाते हैं और वही राष्ट्र का जागरण होता है। कवि की अभिलाषा है कि जब इस प्रकार के ऊर्ज प्रवाहित हों तब मैं भी उस चेतना के प्राणवायु से संयुक्त होऊँ। पृथिवी के ऊपर आकाश में छा जानेवाले विचार-मेघ वे पर्जन्य हैं जो अपने वर्षण से समस्त जनता को सींचते हैं (पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु, १२)। उन पर्जन्यों से प्रजाएँ नई नई प्रेरणाएँ लेकर बढ़ती हैं। पृथिवी पर उठनेवाले ये महान् वेग मानसिक शक्तियों में

प्रकंप उत्पन्न करते हैं, और शारीरिक बलों में चेतना या हलचल को जन्म देते हैं। इन दो प्रकार के वेगों (फोर्सेज) के लिये वेद में 'एजथु' और 'वेपथु' शब्दों का प्रयोग किया गया है—

महत्सधस्थं, महती बभूव;
महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे (१८)।

भूमि की एक संज्ञा सधस्थ (कॉमन फादरलैंड) है, क्योंकि यहाँ उसके सब पुत्र मिलकर (सह+स्थ) एक साथ रहते हैं। यह महती पितृभूमि या सधस्थ विस्तार में अत्यंत महान् है और ज्ञान की प्रतिष्ठा में भी इसका पद ऊँचा है। इसके पुत्रों के एजथु (मन के प्रेरक वेग) और वेपथु (शरीर के बल) भी महान् हैं। तीन महत्ताओं से युक्त इसकी रक्षा महान् इंद्र प्रमादरहित होकर करते हैं (महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्, १८)। महान् देश-विस्तार, महती सांस्कृतिक प्रतिष्ठा, जनता में शरीर और मन का महान् आन्दोलन और राष्ट्र का महान् रक्षण-बल—ये चारों जब एक साथ मिलते हैं तब उस युग में इतिहास स्वर्ण के तेज से चमकता है। इसी को कवि ने कहा है—'हे भूमि, हिरण्य के संदर्शन से हमारे लिये चमको, कोई हमारा वैरी न हो' (१८)। बड़े बड़े बवंडर और भूचाल, हड़हरे और हड़कंप, बतास और झँझाएँ—भौतिक और मानसिक जगत् में पृथिवी पर चलते रहते हैं। इतिहास में कहीं युद्धों के प्रलयंकर मेघ मँडराते हैं, कहीं क्रांति और विप्लवों के धक्के पृथिवी को डगमगाते हैं, परंतु पृथिवी का मध्यबिंदु कभी नहीं डोलता। जिन युगों में किलकारी मारनेवाली घटनाओं के अध्याय सपाटे के साथ दौड़ते हैं, उनमें भी पृथिवी का केंद्र ध्रुव और अडिग रहता है। इसका कारण यह है कि यह पृथिवी इंद्र की शक्ति से रक्षित (इंद्रगुप्ता) है; सब में महान् देव इंद्र प्रमादरहित होकर स्वयं इसकी रक्षा करता रहता है। इस प्रकार की कितनी अग्निपरीक्षाओं में पृथिवी उत्तीर्ण हो चुकी है।

कवि की दृष्टि में मनु की संतति इस पृथिवी पर असंबाध निवास करती है (असंबाधं बध्यतो मानवानाम्, २)। इस भूमि के पास चार दिशाएँ हैं, इसका स्मरण कराने का तात्पर्य है कि प्रत्येक दिशा में जो स्वाभाविक दिक्सीमा है वहाँ तक पृथिवी का अप्रतिहत विस्तार है। 'प्राची और

उदीच्यो, दक्षिण और पश्चिम—इन दिशाओं में सर्वत्र हमारे लिये कल्याण हो और हम कहीं से आक्रांत न हों' (३१, ३२)। इस भुवन का आश्रय लेते हुए हमारे पैरों में कहीं ठोकर न लगे (मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः) और हमारे दाहिने और बाएँ पैर ऐसे दृढ़ प्रतिष्ठित हों कि किसी अवस्था में भी वे लड़खड़ाएँ नहीं (पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्)। जनता के पराक्रम की चार अवस्थाएँ होती हैं—कलि, द्वापर, त्रेता और कृत। जनता का सोया हुआ रूप कलि है, बैठने की चेष्टा करता हुआ द्वापर है, खड़ा हुआ रूप त्रेता और चलता हुआ रूप कृत है (उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः, २८)।*

पृथिवी पर असंबाध निवास करने के लिये एक भावना बारंबार इन मंत्रों में प्रकट होती है। वह है पृथिवी के विस्तार का भाव। यह भूमि हमारे लिये उरु-लोक अर्थात् विस्तृत प्रदेश प्रदान करनेवाली हो (उरुलोकं पृथिवी नः कृणोतु)। द्युलोक और पृथिवी के बीच में महान् अंतराल जनता के लिये सदा उन्मुक्त रहे। राष्ट्र के लिये केवल दो चीजें चाहिएँ—एक 'व्यच' या भौमिक विस्तार और दूसरी मेधा या मस्तिष्क की शक्ति (५३)। इन दो की प्राप्ति से पृथिवी की उन्नति का पूर्ण रूप विकसित हो सकता है।

भूमि पर जनों का वितरण इस प्रकार स्वाभाविक रीति से होता है जैसे अश्व अपने शरीर की धूलि को चारों ओर फैलाता है। जो जन पृथिवी पर बसे थे वे चारों ओर फैलते गए और उनसे ही अनेक जनपद अस्तित्व में आए। यह पृथिवी अनेक जनों को अपने भीतर रखनेवाला एक पात्र है (त्वमस्यावपनी जनानाम्, ६१)। यह पात्र विस्तृत है (पप्रथाना), अखंड (अदिति रूप) है, और सब कामनाओं की पूर्ति करनेवाला (कामदुघा) है। किसी प्रकार की कोई न्यूनता प्रजापति के सुंदर और सत्य नियमों के कारण

---

* इसी की व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण के चरैवेति-गान में है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

इस पूर्ण घट में उत्पन्न नहीं होती। पृथिवी के ऊन भावों की पूर्ति का उत्तरदायित्व प्रजापति के ऋत या विश्व की संतुलन-शक्तियों पर है (यत्त ऊनं तत्त आपूरयति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य, ६१)।

पृथिवी पर बसे हुए अनेक प्रकार के जनों की सत्ता ऋषि स्वीकार करता है। मातृभूमि को वे मिलकर शक्ति देते हैं और उसके रूप की समृद्धि करते हैं। अपने अपने प्रदेशों के अनुसार (यथौकसम्) उनकी अनेक भाषाएँ हैं और वे नाना धर्मों के माननेवाले हैं—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं,
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (४५)

उनमें जो विभिन्नता की सामग्री है उसे मातृभूमि सहर्ष स्वीकार करती है। विभिन्न होते हुए भी उन सब में एक ही तार इस भावना का पिरोया हुआ है कि वे सब पृथिवी के पुत्र हैं। कवि की दृष्टि में यह एकता दो रूपों में प्रकट होती है। एक तो उस गंध के रूप में है जो पृथिवी का विशेष गुण है। यह गंध सब में बसी हुई है। जिसमें भूमि की गंध है वही सगंध है और उसी में भूमि का तेज झलकता है। पृथिवी से उत्पन्न वह गंध राष्ट्रीय विशेषता के रूप में स्त्रियों और पुरुषों में प्रकट होती है। उसी गंध को हम स्त्री-पुरुषों के भाग्य और मुख के तेज के रूप में देखते हैं। वीरों का पौंस्य भाव और कन्या का वर्चस् उसी गंध के कारण है। मातृभूमि की पुत्री प्रत्येक कुमारी अपने लावण्य में उसी गंध को धारण करती है। मातृभूमि की उस गंध से हम सब सुरभित हों, उस सौरभ का आकर्षण सर्वत्र हो। अन्य राष्ट्रों के मध्य में हमारी उस गंध का कोई वैरी न हो, केवल उस गंध के कारण अर्थात् मातृभूमि की उस छाप को अपने सिर पर धारण करने के कारण, कोई हमसे द्वेष न करे (तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन, २४, २५)। वह गंध भूमि के प्रत्येक परमाणु की विशेषता है। ओषधियों और वनस्पतियों में, मृगों और आरण्य पशुओं में, अश्वों और हाथियों में सर्वत्र वही एक विशेषता स्पष्ट है। मातृभूमि की उस गंध के कारण किसी को कहीं भी निरादर प्राप्त न हो, वरन् इसी गुण के कारण राष्ट्र में वे तेजस्वी और सम्मानित हों। वही गंध उस पुष्कर में बसी हुई थी जिसे सूर्या के विवाह में देवों ने सूँघा था।

उन अमर्त्यों को हे भूमि, तुम्हारी 'अग्र गंध' उदय के प्रथम प्रभात में प्राप्त हुई थी, वही अग्र गंध हमें भी सुरभित करनेवाली हो। जिस समय राष्ट्र की सब प्रजाएँ परस्पर सुमनस्यमान होकर अपने सुंदर से सुंदर रूप में विराजमान थीं, उस समय सूर्या के विवाह में उनका जो महोत्सव हुआ था, उस सम्मिलन में जिस गंध से बसे हुए कमल को देवों ने सूँघा था उसी अमर गंध की उपासना आज हम भी करते हैं (२३-२५)। जनता का बाह्य भौतिक रूप और श्री उसी राष्ट्रीय ऐक्य से सदा प्रभावित हो।

एकता का दूसरा रूप अधिक उच्च है। वह मानस जगत् की भावना है। वह अग्नि के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। अग्नि ही ज्ञान की ज्योति है। 'पुरुषों और स्त्रियों में, अश्वों और गोधन में, जल और ओषधियों में, भूमि और पाषाणों में, द्युलोक और अंतरिक्ष में एक ही अग्नि बसी हुई है। मर्त्य लोग अपनी साधना से उसी अग्नि को प्रज्वलित करके अमर्त्य बनाते हैं।' मातृभूमि के जिन पुत्रों में यह अग्नि प्रकट हो जाती है वे अमृतत्व या देवत्व के भाव को प्राप्त करते हैं। 'यह समस्त भूमि उस अग्नि का वस्त्र ओढ़े हुए है। इसका घुटना काला है' (अग्निवासाः पृथिवी असितज्ञूः, २१)। पुत्र माता के जिस घुटने पर बैठता है, उसका भौतिक रूप काला है, किंतु उस पर बैठकर और मातृमान् बनकर वह अपने हृदय के भावों से उस अग्नि को प्रकाशित करता है, जिससे वह तेज और तीक्ष्ण बल प्राप्त करके त्विषीमंत और संशित बनता है (२१)। मातृभूमि के साथ संबंधित होने के लिये मनोभाव ही प्रधान वस्तु है। 'जो देवों की भावना रखते हैं उनके लिये यहाँ सजाए हुए यज्ञ हैं; जो मानुषी भावों से प्रेरित हैं, उन मर्त्यों के लिये केवल अन्न और पान के भोग हैं (२२)। इस सूक्त में भूमि, भूमि पर बसनेवाले जन, जनों की विविधता, उनकी एकता, और उन सब को मिलाकर एक उत्तम राष्ट्र की कल्पना—इन पाँचों का स्पष्ट विवेचन पाया जाता है। कवि ने निश्चित शब्दों में कहा है—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। (८)

समग्रता—राष्ट्रीय ऐक्य के लिये सूक्त में 'समग्र' शब्द का प्रयोग है। यह ऐक्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? आपस में मिलना होगा, अनेक भाषाओं और धर्मों का अस्तित्व कोई त्रुटि नहीं है। अभिशाप के रूप में

उसकी कल्पना वेद का भाव नहीं है। ऋषि की दृष्टि में विविधता का कारण भौमिक परिस्थिति है। नाना धर्म, भिन्न भाषाएँ, बहुधा जन, ये सब यथौकस् अर्थात् अपने अपने निवासस्थानों के कारण पृथक् हैं। इस स्वाभाविक कारण से जूझना मनुष्य की मूर्खता है। ये स्थूल भेद कभी एकाकार हो जायँगे, यह समझना भी भूल है। 'पृथिवी से जो प्राणी उत्पन्न हैं उन्हें भूमि पर विचरने का अधिकार है। जो भद्र और पाप हैं उन्हें भी जनायन मार्गों के उपयोग का स्वत्व है। जितने मर्त्य 'पंच मानव' यहाँ हैं वे तब तक अमर रहेंगे, जब तक सूर्य आकाश में है क्योंकि सूर्य ही तो प्रात:काल सबको अपनी रश्मियों से अमर बना रहा है।' (१५)

पृथिवी के 'पंच मानव' और छोटी मोटी और भी अनेक प्रजाएँ (पंच कृष्ट्यः) विधाता के विधान के अनुसार ही स्थायी रूप से यहाँ निवास करने के लिये हैं, अतएव उनको परस्पर समग्र भाव से एकता के सूत्र में बँधकर रहना आवश्यक है—

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्। (१६)

बिना एकता के मातृभूमि का कल्याण असंभव है। पृथिवी के दोहन के लिये आदिराज पृथु ने जड़-चेतन के अनेक वर्गों को एक सूत्र में बाँधा था, और भूमि का दूध पीने के लिये पृथु को अध्यक्षता में सभी को बछड़ा बनना पड़ा था। इस ऐक्य भाव की कुंजी वाणी का मधु या बोली का मिठास है (वाचः मधु)। यह कुंजी तीन काल में भी नहीं बिगड़ती। हमें चाहिए कि जब बोलने लगें तो पहले यह सोच लें कि हम उससे किसी के हृदय पर आघात तो नहीं कर रहे हैं। 'हे सब को शुद्ध करनेवाली माता, तुम्हारे मर्म और हृदय स्थान का बेधन मैं कभी न करूँ।' (३५) प्रियदर्शी अशोक ने संप्रदायों में सुमति और सद्भाव के लिये वाणी के इस शहद का उपदेश दिया था। अपने को उज्ज्वल सिद्ध करने के लिये जब हम दूसरों की निंदा करते हैं तब आप भी बुझ जाते हैं। राष्ट्र की वाक् में मधु की अनेक धाराओं के अनवरत प्रवाह में ही सब का कल्याण है और वही मधु समग्र प्रजाओं को एक अखंड भाव में गूँथता है। पृथिवी स्वयं क्षमाशील धात्री है (क्षमां भूमिम्,२९)।

वह क्षमा और सहिष्णुता का सब से बड़ा आदर्श उपस्थित करती है। 'ज्ञानी-गुरु (२६) और मूर्ख-बुद्ध दोनों को वह पोषित करती है। भद्र और पापी दोनों की मृत्यु उसी की गोद में होती है।' (४८) 'प्रत्येक प्राणी दाहिनी-बाईं पसलियों की करवट से उस पर लेटता है और वह सभी का बिछौना बनी है' (सर्वस्य प्रतिशीवरी, ३४)।

पृथिवी पर बसनेवाला जन व्यक्ति रूप से शतायु, पर समष्टि रूप से अमर है। जन का जीवन एक पीढ़ी में समाप्त नहीं हो जाता; वह युगांत तक स्थिर रहता है। सूर्य उसके अमृतत्व का साक्षी है। जन पृथिवी के उत्संग में रोग और ह्रास से अभय होकर रहना चाहता है (अनमीवा अयक्ष्मा, ६२)। हे मातृभूमि, हम दीर्घ आयु तक जागते हुए तुम्हारे लिये भेंट चढ़ाते रहें (६२)। पृथिवी जन के भूत और भविष्य दोनों की पालनकर्त्री है (सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, १)। उसकी रक्षा स्वयं देव प्रमाद बिना स्वप्नरहित होकर करते हैं (७)। इसलिये पृथिवी का जीवन कल्पांत तक स्थायी है। उस भूमि के साथ यज्ञीय भावों से संबंधित जन भी अजर-अमर है।

भूमि के साथ जन का संबंध आज नया नहीं है। यही पृथिवी हमारे पूर्व पुरुषों की भी जननी है। 'हे पृथिवी, तुम हमारे पूर्वकालीन पूर्वजों की भी माता हो। तुम्हारी गोद में जन्म लेकर पूर्व जनों ने अनेक विक्रम के कार्य किए हैं—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे। (५)

उन पराक्रमों की कथा ही हमारे जन का इतिहास है। हमारे पूर्वपुरुषा ने इस भूमि को शत्रुओं से रहित (अनमित्र) और असपत्न बनाया। उन्होंने युद्धों में दुंदुभि-घोष किया (यस्यां वदति दुंदुभिः, ४१) और आनंद से विजयगान करते हुए नृत्य और संगीत के प्रमोद किए (यस्यां नृत्यंति गायंति व्यैलबाः, ४१)। जनता की हर्षवाणी और किलकारियों से युक्त गीत और नृत्य के दृश्य, तथा अनेक प्रकार के पर्व और मंगलोत्सवों का विधान संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसके द्वारा लोक की आत्मा प्रकाशित होती है।

भारतीय संवत्सर के षड् ऋतुओं का चक्र इस प्रकार के पर्वों से भरा हुआ है। उनके सामयिक अभिप्राय को पहचान कर उन्हें फिर से राष्ट्रीय जीवन का अंग बनाने की आवश्यकता है। उद्यानों की क्रीडाएँ और कितने प्रकार के पुष्पोत्सव संवत्सर की पर्वपरंपरा में अभी तक बच गए हैं। वे फिर से सार्वजनिक जीवन में प्राण-प्रतिष्ठा के अभिलाषी हैं।

इस विश्वगर्भा पृथिवी के पुत्रों को विश्वकर्मा कहा गया है (१३)। अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों की योजना उन्होंने की है और नए संभारों को वे उठाते रहते हैं। पृथिवी के विशाल खेतों में उनके दिनरात के परिश्रम से चारों ओर धान्य-संपत्ति लहराती है। उन्होंने अपनी बुद्धि और श्रम से अनेक बड़े नगरों का निर्माण किया है जो देवनिर्मित से जान पड़ते हैं—

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु, (४३)

पृथिवी की महापुरियों में देवताओं का अंश मिला है इसीलिये तो वे अमर हैं। महापुरियों में देवत्व की भावना से स्वयं भूमि को भी देवत्व और सम्मान मिला है। जंगल और पहाड़ों से भरी हुई, तथा समतल मैदान और सदा बहनेवाली नदियों से परिपूर्ण भूमि को हर एक दिशा में नगरों की शोभा से रमणीय बना देना राष्ट्र का बड़ा भारी पराक्रम-कार्य माना जाता है। संस्कृति के अनेक अध्यायों का निर्माण इन नगरों में हुआ है जिसके कारण उनको पुनः प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। प्राचीन भारत में नगरों के अधिष्ठाता देवताओं की कल्पना की गई थी। उन नगर-देवताओं को फिर से पौर-पूजा का उपहार चढ़ाने के लिये सार्वजनिक महोत्सवों का विधान होना चाहिए। पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं उनमें भी सभ्यता के अंकुर फूले-फले हैं। ग्रामों के जनपदीय जीवन में एवं जहाँ अनेक मनुष्य एकत्र होते हैं उन संग्रामों या मेलों में, मातृभूमि की प्रशंसा के लिये उसके पुत्रों के कंठ निरंतर खुलते रहें—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्यां।
ये संग्रामास्समितयस्तेषु चारु वदेम ते। (५६)

'पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएँ और समितियाँ हैं, जो सार्वजनिक सम्मेलन हैं, उनमें हे भूमि, हम तुम्हारे लिये सुंदर भाषण करें।'

सुंदर भाषण का स्मरण करते हुए कवि का हृदय गद्गद हो जाता है। वह चाहता है कि भूमि के प्रशंसा-गान में हमारा हृदय विकसित हो, हमारी वाणी उदार हो, और हमारी भाषा की शब्दसंपत्ति का भंडार अक्षुण्ण हो। वाणी का सर्वोत्तम तेज उन सभाओं और समितियों में देखा जाता है जो राष्ट्रीय जीवन को नियमित करती हैं। सभा और समिति को वेदों में प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है। राष्ट्रीय जीवन के साथ उनका मिलकर कार्य करना अत्यंत आवश्यक है। सभाओं और समितियों में जनता के जो प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं, मातृभूमि के लिये उनके द्वारा सुंदरतम शब्दों के प्रयोग की कल्पना कितनी मार्मिक है। वेदों के अनुसार पृथिवी पर बसनेवाली जनता का संबंध राष्ट्र से है। राष्ट्र के अंतर्गत भूमि और जन दोनों सम्मिलित हैं। इसलिये यजुर्वेद के 'आब्रह्मन्' सूक्त में एक ओर ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण, तेजस्वी राजन्य और यजमानों के वीर युवा पुत्रों का आदर्श है, दूसरी ओर उचित समय पर मेघों से जलवृष्टि और फलवती ओषधियों के परिपाक से पृथिवी पर धन-धान्य की समृद्धि की अभिलाषा है। इन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का योगक्षेम पूर्ण होता है। पृथिवीसूक्त में राष्ट्र के आदर्श को कई प्रकार से कहा गया है। भूमि पर जन की दृढ़ स्थापना, जनता में सममता का भाव, जन की अनमित्र, असपत्न और असंबाध स्थिति, जो बातें राष्ट्र-वृद्धि के लिये आवश्यक हैं उनका वर्णन सूक्त में यथास्थान प्राप्त होता है।

भूमि, जन और जन की संस्कृति, इन तीनों की सम्मिलित संज्ञा राष्ट्र है। पृथिवीसूक्त के अनुसार राष्ट्र तीन प्रकार का होता है—निकृष्ट, मध्यम और उत्तम। प्रथम कोटि के राष्ट्र में पृथिवी की सब प्रकार की भौतिक संपत्ति का पूर्ण रूप से विकास देखा जाता है। मध्यम कोटि के राष्ट्र में जन की वृद्धि और हलचल देखी जाती है, और उत्तम कोटि के राष्ट्र की विशेषता का लक्षण राष्ट्रीय जन की उच्च संस्कृति है। इसी को ध्यान में रखते हुए ऋषि

प्रार्थना करता है कि हम उत्तम राष्ट्र में मानसिक तेज और शारीरिक बल प्राप्त करें—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे, (८)। वह भूमि जिसका हृदय परम व्योम में अमृत और सत्य से ढका हुआ है, उत्तम राष्ट्र में हमारे लिये तेज और बल की देनेवाली हो। राष्ट्र के उपर्युक्त स्वरूप को यों भी कह सकते हैं कि भूमि राष्ट्र का शरीर है, जन उसका प्राण है, और जन की संस्कृति उसका मन है। शरीर, प्राण और मन इन तीनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र की आत्मा का निर्माण होता है। राष्ट्र में जन्म लेकर प्रत्येक मनुष्य तीन ऋणों से ऋणवान् हो जाता है, अर्थात् त्रिविध कर्तव्य जीवन में उसके लिये नियत हो जाते हैं। राष्ट्र के शरीर या भौतिक रूप की उन्नति देवऋण है, क्योंकि यह भूमि इस रूप में देवों के द्वारा निर्मित हुई। जन के प्रति कर्त्तव्य पितृऋण है जो सुंदर स्वस्थ प्रजा की उत्पत्ति और उनके संवर्धन से पूर्ण किया जाता है। राष्ट्रीय ज्ञान और धर्म के प्रति जो कर्तव्य है वह ऋषि-ऋण है। संस्कृति के विकास के द्वारा हम उस ऋण से उऋण होते हैं। ऋषियों के प्रति उत्तरदायित्व का अर्थ है ज्ञान और संस्कृति के आदर्शों को अपने ही जीवन में मूर्तिमान् करने का प्रयत्न, और यह विचार कि राष्ट्र में ज्ञान के संरक्षण और संचय की जो गुहाएँ हैं, उनमें मेरा अपना मन भी एक गुहा बने, इससे राष्ट्र के उत्तम रूप का तेज विकसित होता है। एक तपस्वी के तप से, ज्ञानी के ज्ञान से और संकल्पवान् पुरुष के संकल्प से समस्त राष्ट्र शक्ति, ज्ञान और संकल्प से युक्त बनता है। राष्ट्र में सुवर्ण के सुमेरुओं का संचय उसके स्थूल शरीर की सजावट है; परंतु तप, ज्ञान और संकल्प की साधना राष्ट्र के मन और जन की संस्कृति का विकास है। 'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'—यह वाक्य राष्ट्र की उत्तम स्थिति या सर्वश्रेष्ठ आदर्श का सूत्र है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंधित होता है। उस व्यवहार को दूसरे मंत्र में (५८) चार प्रकार से कहा गया है—

१—'मैं जो कहता हूँ, उसमें शहद की मिठास घोल कर बोलता हूँ।' अर्थात् सबके साथ सहिष्णुता का भाव राष्ट्र की उद्घोषित नीति है और हमारे साहित्य और संस्कृति का यही संदेश है।

२—'जिस आँख से मैं देखता हूँ उसे सब चाहते हैं।' हमारा दृष्टिकोण विश्व का दृष्टिकोण है, अतएव सबके साथ उसका समन्वय है, किसी के साथ उसमें विरोध या अनहित का भाव नहीं है।

३—'परंतु मेरे भीतर तेज (त्विषि) और शक्ति (जूति) है।' हमारा व्यवहार और स्थान वैसा ही है जैसा तेजस्वी और सशक्त का होता है।

४—'जो मेरा हिंसन या आक्रमण (अवरोधन) करता है उसका मैं हनन करता हूँ।' इस नीति में राष्ट्र के ब्रह्मबल और क्षत्रबल का समन्वय है।

ऋषि की दृष्टि में यह भूमि धर्म से धृत है, हमारे महान् धर्म की वह धात्री है। उसके ऊपर विष्णु ने तीन प्रकार से विक्रमण किया, अश्विनी-कुमारों ने उसको फैलाया और प्रथम अग्नि उस पर प्रज्वलित की गई। वह अग्नि स्थान-स्थान पर समिद्ध होती हुई समस्त भूमि पर फैली है और उससे भूमि को धार्मिक भाव प्राप्त हुआ है। अनेक महान् यज्ञों का इस पृथिवी पर वितान हुआ। उसके विश्वकर्मा पुत्रों ने अनेक प्रकार के यज्ञीय विधानों में नवीन अनुष्ठानों की भूमिका के रूप में पृथिवी पर वेदियों का निर्माण किया। अनेक ऋत्विजों ने ऋक्, यजु और साम के द्वारा उन यज्ञों में मंत्रों का उच्चारण किया। भूमि पर पूर्वजों के द्वारा यज्ञों का जो अनुष्ठान किया गया उससे भू-प्रतिष्ठा के लिये अनेक आसंदियाँ स्थापित हुईं और जनकीर्ति के यूप-स्तंभ खड़े किए गए। भूमि को आत्मसात् करने के प्रमाण रूप में यज्ञीय यूप आज तक आर्यावर्त से यवद्वीप तक स्थापित हैं। इन यूपों के सामने दी हुई आहुतियों से सम्राटों के अश्वमेध यज्ञ अलंकृत हुए हैं। कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय विक्रम के प्रतीक चिह्नों की संज्ञा ही यूप है। पृथिवी का इंद्र के साथ घनिष्ठ संबंध है। यह इंद्र की पत्नी है, इंद्र इसका स्वामी है। इसने जान बूझकर इंद्र का वरण किया, वृत्रासुर का नहीं (इंद्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्, ३७)। इस प्रकार पृथिवी न केवल हमारी मातृभूमि है, किंतु हमारी धर्मभूमि भी है।

जनसंस्कृति अथवा ब्रह्म-विजय

ऊपर कहा जा चुका है कि भूमि के साथ जनता का सब से अच्छा और गहरा संबंध उसकी संस्कृति के द्वारा होता है। पृथिवी पर मनुष्य दो प्रकार से अपने आपको प्रतिष्ठित करता है—एक सैनिक बल या क्षत्र-विजय के द्वारा और दूसरा ज्ञान या ब्रह्म-विजय के द्वारा। क्षत्र-विजय (पॉलिटिक मिलिटरी एँ पायर) भी एक महान् पराक्रम का कार्य है, किंतु ब्रह्म-विजय (आइडियॉलॉजिकल कल्चर एँ पायर) उससे भी महान् है। इन दोनों दिग्विजयों के मार्ग एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। हमारी पृथिवी का इतिहास दोनों प्रकार से गौरवशील है। क्षत्र-बल के द्वारा देश में अनेक छोटे और बड़े राज्यों की स्थापना हमारे इतिहास में होती रही। किसी पूर्व युग में इस भूमि पर देवों ने असुरों को पछाड़ा था और दुंदुभि-घोष के द्वारा पृथिवी को दस्युओं और शत्रुओं से रहित किया था; उसके फलस्वरूप पृथिवी-पुत्रों ने अजीत, अक्षत और अहत होकर भूमि पर अधिकार प्राप्त किया। इस प्रकार की क्षत्र-विजय इतिहास में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण समझी जाती है, परंतु भूमि की सच्ची विजय उसकी संस्कृति या ज्ञान की विजय है। जैसा कहा है, यह पृथिवी ब्रह्म या ज्ञान के द्वारा संवर्धित होती है—

ब्रह्मणा वावृधानाम् (१९)

ब्रह्म-विजय के लिये एक व्यक्ति का जीवन उतना ही बड़ा है जितनी पूरी त्रिलोकी। उस विशाल क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान और कर्म की पूरी ऊँचाई तक उठकर दिग्विजय के आदर्श को स्थापित कर सकता है। एक छोटे जनपद का शासक भी अपने पराक्रम से सच्ची ब्रह्मविजय प्राप्त करके जब यह घोषित करता है कि मेरे राज्य में चोर, पापी और आचारहीन व्यक्ति नहीं रहते, तब वह अपने उस परिमित केंद्र में बड़े से बड़े सार्वभौम शासक का ऊँचा आदर्श और महत्त्व प्राप्त कर लेता है। व्यक्तियों और जनपदों के द्वारा यह ब्रह्मविजय समस्त देश में फैलती है, और एक-एक ग्राम, पुर, नदी, पर्वत और अरण्य को व्याप्त करती हुई देशांतर और द्वीपांतरों तक पहुँचती है। दर्शन, ज्ञान, साहित्य, कला, संस्कृति की बहुमुखी विजय भारतवर्ष की ब्रह्म-विजय के रूप में संसार के दूर देशों में मान्य हुई, जिसके

अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। बृहत्तर भारत का अध्ययन इसी चातुर्दिश ब्रह्म-विजय का अध्ययन है।

ब्रह्म-विजय या संस्कृति के साम्राज्य का रहस्य क्या है? आध्यात्मिक जीवन के जो महान् तत्त्व हैं ऋषि की दृष्टि में वे ही पृथिवी को धारण करते हैं। इस सूक्त के प्रथम मंत्र में ही राष्ट्र की इस आधार-भूमि का वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के स्वरूप का ध्यान करते हुए सब से पहले यही मूल सत्य ऋषि के ध्यान में आया जिसे उसने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञ: पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी
उरुं लोकं पृथिवी न: कृणोतु॥ १॥

'सत्य, बृहत् और उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ—ये पृथिवी को धारण करते हैं। जो पृथिवी हमारे भूत और भविष्य की पत्नी है वह हमारे लिये विस्तृत लोक प्रदान करनेवाली हो।'

यह मंत्र भारतवर्ष की सांस्कृतिक विजय का अंतर्यामी सूत्र है। इससे तीन बातें ज्ञात होती हैं—सत्य, ऋत आदिक शाश्वत तत्त्व जिस तरह आध्यात्मिक जीवन के आधार हैं, उसी तरह राष्ट्रीय जीवन के भी आधार हैं, उन्हीं से संस्कृति का निर्माण होता है। दूसरे भूत काल में और भविष्य में राष्ट्र के साथ पृथिवी का जो संबंध है वह संस्कृति के द्वारा ही सदा स्थिर रहता है। तीसरे यह कि ब्रह्म-विजय के मार्ग में पृथिवी की दिक्सीमाएँ अनंत हो जाती हैं। एक जनपद से जो संस्कृति की विजय आरंभ होती है उसकी तरंगें देश में फैलती हैं, और पुन: देश से बाहर समुद्र और पर्वतों को लाँघती हुई देशांतरों में और समस्त भूमंडल में फैल जाती हैं। यही पृथिवी का 'उरु-लोक प्रदान करना' है।

सत्य और ऋत जीवन के दो बड़े आधार-स्तंभ हैं। कर्म का सत्य सत्य है और मन का सत्य ऋत है। मानस-सत्य के नियम विश्व भर में अखंड और दुर्धर्ष हैं। कर्म-सत्य और मानस-सत्य इन दोनों के बल से राष्ट्र बलवान्

होता है। इन दो प्रकार के सत्यों को प्राप्त करने के लिये जीवन के कटिबद्ध व्रत का नाम दीक्षा है। दीक्षित व्यक्ति पहली बार सत्य की ओर आँख से आँख मिलाकर देखता है। दीक्षा के अनंतर जीवन में जो साधना की जाती है वही तप है। अनेक विद्वान् और ज्ञानी सत्य के किसी एक पक्ष को प्रत्यक्ष करने की दीक्षा लेकर जीवन में घोर परिश्रम करते हैं, वही उनका तप है। इस तप के फल का विश्वहित के लिये विसर्जन करना यज्ञ है। इन पाँचों को जीवन में प्राप्त करने या अनुप्राणित करने की जो भावना है वही ब्रह्म या ज्ञान है।

इन आदर्शों में श्रद्धा रखनेवाले पूर्व ऋषियों ने अपने ध्यान की शक्ति से (मायाभिः) इस पृथिवी को मूर्त रूप प्रदान किया, अन्यथा यह जल के नीचे छिपी हुई थी। वे ही ऋषि आदर्शों के संस्थापक हुए जिन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सब तरह से नया निर्माण किया। उन निर्माता पूर्वजों (भूतकृत: ऋषयः) ने यज्ञ और तप के साथ राष्ट्रीय सत्रों में जिन वाणियों का उद्‌घोष किया वही यह वैदिक सरस्वती भारतीय ब्रह्म-विजय की ऊँची शाश्वती पताका है। श्रुति महती सरस्वती के कारण ही हमारी पृथिवी सब भुवनों में अग्रणी हुई, इसी कारण ऋषि ने उसे 'अग्रेत्वरी'* (आगे जानेवाली) विशेषण दिया है। मातृभूमि के इसी अग्रणी गुण को अर्वाचीन कवि ने 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने' कहकर प्रकट किया है। जो स्वयं सबसे आगे है वही अपने पुत्रों को प्रथम स्थान में स्थापित कर सकती है (पूर्वपेये दधातु†)। अपनी दुर्धर्ष ब्रह्म-विजय के आनंद में विश्वास के साथ मस्तक ऊँचा करके प्रत्येक पृथिवी-पुत्र इस प्रकार कह सकता है—'मैं विजयशील हूँ, भूमि के ऊपर सबसे विशिष्ट हूँ, मैं विश्वविजयी हूँ और दिशा-विदिशाओं में पूर्णत: विजयी हूँ'—

---

* भुवनस्य अग्रेत्वरी (अग्र+इत्वरी) लीडर एंड हेड ऑव् ऑल दी वर्ल्ड (ग्रिफिथ, अथर्व० १२।१।५७)

† पूर्वपेय—फोरमोस्ट रैंक ऍंड स्टेशन—ग्रिफिथ।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ (५४)

'अहमस्मि सहमान' की भावना अनेक क्षेत्रों में अनेक प्रकार से सहस्राब्दियों तक भारतीय संस्कृति में प्रकट होती रही। इसके कारण अनेक परिस्थितियों के बीच में पड़कर भी जनता का जीवन अक्षुण्ण बना रहा।

हे विश्वंभरा पृथिवी, तुम्हारे प्रिय गान को हम गाते हैं। तुम विश्व की धात्री (विश्वधायस्) माता हो, अपने पुत्रों के लिये पयस्वती होकर सदा दूध की धाराओं का विसर्जन करती हो। ध्रुव कामधेनु की तरह प्रसन्न (सुमनस्यमान) होकर तुम सदा सब कामनाओं को पूर्ण करती हो। हे कल्याणविधात्री, तुम क्षमाशील और विश्वगर्भा हो। तुम सदा अपने प्राणमय संस्पर्श से हमारे मनोभावों को और जीवन को सब तरह के मैल से शुद्ध रखनेवाली हो। हे मार्जन करनेवाली देवि विमृग्वरी (२९, ३५, ३७), तुम जिसको माँज देती हो वही नव तेज से प्रकाशित होने लगता है। तुम धन-धान्य से पूर्ण वसुओं का आधान हो। हिरण्य, मणि और कोष तुम्हारे वक्षःस्थल में भरे हुए हैं। हे हिरण्यवक्षा देवि, प्रसन्न होकर अपनी इन निधियों को हमें प्रदान करो। जिस समय तुम समुद्र में छिपी थीं उस समय तुम्हें अपने जन्म से पहले ही विश्वकर्मा का वरदान प्राप्त हुआ था। तुम्हारे भुजिष्य पात्र में विश्वकर्मा ने अपनी हवि डाली थी (यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मा, ६०), इसके कारण विधाता की सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं और जितने प्रकार की सामर्थ्य है वह सब तुममें विद्यमान है। विश्वकर्मा की हवि में विश्व के सब पदार्थ सम्मिलित होने ही चाहिएँ, अतएव उन सब को देने और उत्पन्न करने का गुण तुममें है। हे विश्वरूपा देवि, जिस दिन तुमने अपने स्वरूप का विस्तार किया था, और देवों से संबोधित होकर तुम्हारा नामकरण किया गया, उसी दिन जितने प्रकार का सौंदर्य था वह सब तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट हो गया (आ त्वा सुभूतम विशत्तदानीं, ५५)। वही सौंदर्य तुम्हारे पर्वतों और निर्झरों में, हिमराशि और नदियों में, चर और अचर सब प्रकार के प्राणियों में प्रकट हो रहा है। हे मातृभूमि, तुम प्राण और आयु की अधिष्ठात्री हो, हमें सौ वर्ष तक सूर्य की मित्रता प्रदान करो जिससे हम तुम्हारे सौंदर्य को देखते हुए अपने नेत्रों को सफल कर सकें। तुम

अपनी विजय के साथ वृद्धि को प्राप्त होती हुई हमारा भी संवर्धन करो (सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना, १३)। जीवन के कल्याणों के साथ हम सुप्रतिष्ठित हों। पृथिवी पर रहते हुए केवल भौतिक और पार्थिव विभूति ही जीवन में पर्याप्त नहीं है। कवि की क्रांतदर्शिनी प्रज्ञा द्युलोक के उच्च अध्यात्म-भावों की ओर देखती है, और उस व्योम में उसे मातृभूमि के हृदय का दर्शन होता है। इसलिये वह प्रार्थना करता है—'हे भूमि, हे माता, हमें पार्थिव कल्याणों के मध्य में रखकर द्युलोक के भी उच्च भावों के साथ युक्त करो। भूति और श्री दोनों की जीवन के लिये आवश्यकता है।' द्युलोक के साथ संमनस्क होकर श्री और भूति की एक साथ प्राप्ति ही आदर्श स्थिति है—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रिया मा धेहि भूत्याम्। (६३)

पार्थिव संपत्ति की संज्ञा भूति है और अध्यात्म भावों की प्राप्ति श्री का लक्षण है। भूति और श्री का एकत्र सम्मिलन ही गीता को इष्ट है। यही भारतवर्ष का ऊँचा ध्येय रहा है।

विक्रम संवत्*

[लेखक—डा० अनंत सदाशिव अलतेकर एम० ए०, एल्-एल० बी०, डि० लिट्०]

[इस लेख में लेखक ने विक्रम संवत्सर संबंधी प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री और अनुश्रुति का उल्लेख करते हुए सिद्ध किया है—

(१) इस संवत्सर की स्थापना ५७ ईस्वी पूर्व में मालवगण राज्य में हुई।

(२) इसका प्रारंभिक नाम कृत संवत्सर था।

(३) इसके संस्थापक मालवगण या प्रजातंत्र के कोई कृत नामवाले प्रधान या सेनापति थे जिनके नाम पर संवत् का पहला नाम कृत पड़ा। पर इन कृत का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता।

(४) नवीं शताब्दी से कृत-मालव संवत् का नाम विक्रम संवत् प्रसिद्ध हुआ और यह नया नाम संभवतः चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम पर रखा गया।—सं०]

विक्रम संवत् का आरंभ ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दि में हुआ

विक्रम संवत् ईसा के ५७ वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ यह बात निश्चित है, क्योंकि विक्रम संवत् की तिथियों और महीनों की शृंखला उसी अवस्था में जुड़ सकती है जब हम उपर्युक्त विधान को गृहीत मान लें। एक समय ऐसा था जब फर्ग्युसन के समान कुछ विद्वान् यह बतलाते थे कि ई० सन् ५०० तक विक्रम संवत् का अस्तित्व ही न था। सन् ५४४ में विक्रमादित्य नामक राजा ने हूणों को पराजित किया और उसी घटना के स्मरणार्थ उसने अपने नाम से नवीन संवत् का प्रारंभ किया। किंतु साथ ही साथ लोगों

* हिंदी में इस लेख के लिखने में मुझे अपने छात्र श्री जोशी, बी० ए० से ही सहायता मिली है।

को यह दिखलाने के लिये कि यह संवत् प्राचीन काल से चला आ रहा है, उसने अपने संवत् की आद्य तिथि ६०० वर्ष पूर्व निश्चित की,* परंतु इतिहास में इस प्रकार का नया सवत्, जिसकी आद्यतिथि वास्तविक तिथि से कई शताब्दियों पीछे बतलाई जा रही हो, चलाए जाने का अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस बात को गत शताब्दियों में आपादतः संभवनीय इसलिये माना जा रहा था, कि उस समय तक छठीं शताब्दि के पूर्व के ऐसे कोई उल्लेख प्राप्त नहीं थे जिनमें विक्रम संवत् का नाम हो। परंतु अब ईसा की तीसरी, चौथी व पाँचवीं शताब्दि में भी इस संवत् का उल्लेख मिला है। अतएव उपर्युक्त मत का त्याग अवश्यंभावी है। इसलिये वि० सं० (विक्रम संवत्) का प्रारंभ ईसा के ५७ वर्ष पूर्व ही हुआ यह निश्चित है। अब हम इस पर विचार करेंगे कि इस संवत् का प्रारंभ किसने और किसलिये किया।

कुछ प्रचलित मत

विक्रम संवत् की उपपत्ति के विषय में विद्वानों में अनेक मत प्रचलित हैं। चूंकि इस संवत् का प्रारंभ ई० पू० ५७ वर्ष के लगभग हुआ, इसलिये यह बात स्पष्ट ही है कि इसकी नींव तत्कालीन किसी प्रतापी सम्राट् ने ही डाली होगी। परंतु उस समय विक्रमादित्य नामक किसी सामर्थ्यवान् शासक के होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी आधार पर, उस समय पंजाब में राज्य करनेवाले पार्थियन राजा अझेस् (Azes) ने ही इसका प्रारंभ किया होगा, ऐसा सर जॉन् मार्शल का कथन है।† अझेस् ने उसी समय के लगभग एक नया संवत् चलाया था, यह बात सत्य है परंतु एक हाल में मिले शिलालेख से इस बात का प्रमाण मिलता है कि वह संवत् उसी के नाम से प्रचलित था,‡ अर्थात् अझेस् के संवत् और विक्रम संवत् का एकीकरण

---

* इस मत का आधार अलबेरुनी के ग्रंथ का द्वितीय भाग (पृष्ठ ६-७) है; परंतु उसका पाठ अशुद्ध है।

† ज० रॉयल एशियाटिक सोसाइटी १९१४, पृ० ९८३।

‡ वही ; पृ० ९४९।

असंभव है। फ्लीट नामक दूसरे विद्वान् का मत है कि प्रख्यात राजा कनिष्क ने विक्रम सं० की स्थापना की*। परंतु कनिष्क का समय सन् ७८ के लगभग था यह बात अब सिद्ध हो जाने के कारण उपर्युक्त मत अमान्य हो गया है। वि० सं० का प्रारंभ कार्तिक मास में होता है, और उसी समय युद्धयात्रा प्रारंभ कर विक्रम अर्थात् पराक्रम करने की भी संधि मिलती है, अतएव ऋतु-वैशिष्ट्य के कारण इस संवत् को वि० सं० कहा गया,—किसी राजा के नाम-विशेष का उससे कोई संबंध नहीं—ऐसा कीलहार्न का मत है†। परंतु संवत् का नाम करण किसी ऋतु के नाम के आधार पर होने का उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता, इसलिये इस मत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

विक्रम संवत् नाम कब रूढ़ हुआ ?

विक्रमादित्य राजा ने विक्रम संवत् प्रस्थापित किया ऐसा स्वाभाविक अनुमान कोई भी कर सकता है, पर सच यह है कि शालिवाहन शक और विक्रम संवत् की आरंभिक शताब्दियों के प्राचीन शिलालेखों में न-तो शालिवाहन का नाम मिलता है और न विक्रम का। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दि से इस संवत् को इस प्रकार उल्लेखित किया गया है—'विक्रमनृपकालातीत संवत्सर' (वि० सं० ११९५ का लेख), 'श्रीविक्रमादित्योत्पादित संवत्सर' (वि० सं० ११७६ का लेख), 'श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसंवत्सराणाम्' (वि० सं० ११६१ का लेख), 'विक्रमादित्यकाले' (वि० सं० १०९९ का लेख), 'विक्रमादित्यभूभृतः काले' (वि० सं० १०२८ का लेख), 'कालस्य विक्रमाख्यस्य' (वि० सं० ८९८ का लेख), इत्यादि‡। अतएव यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ई० सन् की

---

* ज० रॉ० ए० सो० १९१३, कनिष्क का विवरण और चर्चा।

† इंडियन एंटिक्वेरी १८९१, पृ० ४०३—०४।

‡ एपिग्राफिया इंडिका (भाग १९—२१) में डा० देवदत्त भांडारकर ने प्राचीन लेखों की सूची संवत् के क्रमानुसार दी है, उसमें ये सब लेख और इस लेख में उद्धृत अन्य लेख भी देखे जा सकते हैं।

ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दि में लोगों में यह धारणा प्रचलित थी कि विक्रमीय-संवत् की स्थापना ईसा पूर्व ५७ वर्ष में विक्रमादित्य नामक किसी प्रतापी सम्राट् ने की थी। परंतु यहाँ भी विचारणीय बात यह है कि इस काल के प्राप्त शिलालेखों में केवल १५ प्रतिशत ही ऐसे हैं जिनमें विक्रमादित्य का इस संवत् से प्रत्यक्ष संबंध बताया गया है, शेष ८५ प्रतिशत लेखों में संवत् का उल्लेख बिना विशेष संबोधन के ही है जैसे 'संवत् १२५३' 'संवत्सरेषु द्वादशशतेषु।'

क्या प्राचीन काल में भी यही नाम प्रचलित था ?

परंतु हम जितना ही अधिकाधिक प्राचीन लेखों का अनुशीलन करेंगे उतना ही हमें विक्रमादित्य का इस संवत् से संबंध कम होता हुआ दिखाई देगा। आज तक हमें विक्रमीय संवत् की दसवीं शताब्दि के ३४ शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से ३२ लेखों में काल-गणना केवल 'संवत्' शब्द मात्र से उल्लिखित है। केवल बिजापुर नामक शहर से प्राप्त राष्ट्रकूट विदग्धराज के लेख में, जो वि० सं० ९७३ का है, इस संवत् का उल्लेख 'विक्रमकालगते' इस प्रकार किया गया है और इस तरह इस संवत् का संबंध विक्रमादित्य से स्थापित किया गया है। पर साथ ही साथ इसी शताब्दि के ९३६ के लेख में, जो कि गवालियर राज्य के ग्यारसपुर नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, विक्रमकाल-गणना को मालव काल के नाम से संबोधित किया गया है—'मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशत्संयुतेष्वतीतेषु'।

नवीं शताब्दि के दस लेख उपलब्ध हैं। उनमें से केवल सं० ८९८ के शिलालेख में इस संवत् के साथ विक्रम का उल्लेख है—'वसु-नव-अष्टौ वर्षा-गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य।' अन्य लेखों में केवल संवत् या संवत्सर इतना ही नाम दिया गया है।

इसी प्रकार इस संवत् की आठवीं शताब्दि के सात लेख प्राप्त हैं। उनमें केवल काठियावाड़ के ढिंकणी नामक गाँव से प्राप्त ताम्रपट में 'विक्रम-संवत्सरशतेषु सप्तसु' यह उल्लेख है। अन्य लेखों में इस संवत् का

कोई भी नाम नहीं दिया गया है। परंतु इन पंक्तियों के लेखक ने यह बात प्रमाणित कर दी है कि यह ताम्रपट उत्तरकालीन और बनावटी है[१]।

विक्रम संवत् या मालव संवत् ?

परंतु यदि हम सातवीं शताब्दि से भी प्राचीन शिलालेखों को देखते हैं तो इस संवत् को मालव संवत् के नाम से पाते हैं। मंदसोर के सं० ४९३ वाले शिलालेख में इस संवत् का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

(१) मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां ऋतौ सेव्यघनस्तने ॥

इसी स्थल से प्राप्त संवत् ५८९ के अन्य लेख में—

(२) 'मालवगणस्थिति-वशात्कालज्ञानाय लिखितेषु' इस प्रकार से इस संवत् की उपपत्ति बतलाई गई है। कोटा राज्य के कणस्वा ग्राम से प्राप्त लेख में और ग्वालियर राज्य के ग्यारसपूर के सं० ९३६ वाले लेख में इस संवत् को क्रमशः 'मालवों का संवत्' और 'मालव देश का काल' कहा गया है।

मालव संवत् या कृत संवत् ?

परंतु इन्हीं लेखों के समकालीन अथवा पूर्ववर्ती लेखों के अध्ययन से हम देखते हैं कि इसी काल-गणना को वहाँ पर कृतकाल-गणना कहा गया है—

(३) नगरी का वि० सं० ४८१ का लेख—'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषु एकाशीत्युत्तरेषु अस्यां मालवपूर्वायाम्।'

(४) राजपूतानास्थित गंगाधर ग्राम का वि० सं० ४८० का लेख— 'यातेषु चतुर्षु कृतेषु शतेषु अशीत्युत्तरेषु।'

(५) मालवा प्रांत के मंदसोर नामक ग्राम से प्राप्त वि० सं० ४६१ का लेख—'श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते। एकषष्ठ्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये।'

(६) भरतपुर राज्यांतर्गत विजयगढ़ का वि० सं० ४२८ का लेख— 'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु।'

---

* एपिग्राफिया इंडिका भाग २६ पृ० १८९

(७-८) बर्नाला (जयपुर राज्य) के वि० सं० ३३५ और २८४ के यूप-लेखों में—

कृतेहि (=कृतैः) ३३५ ज्येष्ठ शु० १५

कृतेहि (=कृतैः) २८४ चैत्र शु० १५

(९-११) बड़वा (कोटा राज्य) के वि० सं० २९५ के तीन यूप-लेख—

कृतेहि (कृतैः) २९५, फाल्गुन शु० ५

(१२) उदयपुर राज्य के नांदसा के यूप-लेख में (वि० सं० २८२) 'कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व्यशीतयोः चैत्रपूर्णमास्याम्।'

विक्रम, मालव और कृत संवत् एक ही हैं

हम देखते हैं कि अभी तक प्राप्त प्रथम सात शताब्दियों के लेखों में इस काल-गणना को विक्रम संवत् के नाम से संबोधित नहीं किया गया है। यही नहीं, किंतु उसे 'मालव काल' तथा 'कृत काल' कहा गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कृत काल और मालव काल विक्रम संवत् के पर्यायवाची न थे; क्योंकि अन्य असंदिग्ध प्रमाणों से यह बात निश्चित हो जाती है कि ये नाम ईसा के ५७ वर्ष पहले प्रारंभ किए गए संवत् को ही दिए गए थे। उदाहरण के लिये मंदसोर के शिलालेख में उल्लेखित मालवगणों का ४९३वाँ वर्ष वि० सं० का ही ४९३ वर्ष है। क्योंकि उस समय गुप्तवंश का सम्राट् कुमारगुप्त शासन कर रहा था। उसका काल ई० ४१४ से ४५४ निश्चित है। अतएव यदि उसके शासन-काल में किसी संवत् का ४९३ वाँ वर्ष पड़ेगा, तो निश्चित ही उस संवत् का प्रारंभ ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दि के मध्यकाल में ही होना चाहिए अर्थात् वह संवत् विक्रम संवत् ही होगा, क्योंकि उस काल के लगभग किसी अन्य भारतीय संवत् का भी प्रारंभकाल है इस बात की पुष्टि आज तक प्राप्त किसी भी प्रमाण से नहीं होती।

सारांश यह कि प्राप्त शिलालेखों से इस बात का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता कि वि० सं० की स्थापना विक्रमादित्य नामक किसी भूपाल ने की थी। यदि यही बात होती तो प्रथम सात शताब्दियों में इस संवत् को विक्रम के नाम से संबद्ध क्यों न किया गया, इसका कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

अब देखना चाहिए कि प्राचीन साहित्य हमारी विचारधारा को किस ओर परिवर्तित करता है।

प्रचलित दंतकथा को जैन ग्रंथों का आधार

तेरहवीं शताब्दि में लिखित 'प्रभावकचरित' नामक जैन ग्रंथ में 'कालकाचार्यकथा' नामक एक कहानी है। उसमें विक्रमादित्य नामक राजा ने शकों को पराभूत कर ई० पू० ५७ वर्ष के लगभग एक नए संवत् की स्थापना की ऐसा वृत्तांत मिलता है। वि० सं० का विचार करते हुए इस कहानी को एक विशिष्ट स्थान देना पड़ता है, इसलिये उसका सारांश इस स्थल पर देना अनुपयुक्त न होगा।

कालकाचार्य की कथा—प्राचीन काल में वीरसिंह नामक राजा धारा नगरी में राज्य करते थे। उनके कालक नामक पुत्र व सरस्वती नामक कन्या थी। कुछ ही दिनों में दोनों भाई-बहन सूरि गुणाकर नामक जैन भिक्षु के उपदेश से संन्यासी हो गए। अपने गुरु गुणाकर के पश्चात् कालक पीठाधिपति भी हो गया। एक समय भ्रमण करते हुए वह अपनी भिक्षुणी बहन के साथ उज्जयिनी को गया। उस समय उज्जयिनी में गर्दभिल नामक एक विषयी राजा राज्य करता था। एक दिन भिक्षुणी सरस्वती भिक्षाटन के लिये चल पड़ी। परंतु वह अपने को राजा की कलुषित दृष्टि से न बचा सकी। फलतः उसे अंतःपुर में कैद होना पड़ा। अपनी बहन को मुक्त करने के लिये कालकाचार्य ने राजा की अनेक प्रकार से प्रार्थना की, परंतु नीच राजा का हृदय न पसीजा। तब क्रुद्ध होकर उन्होंने राजा के नाश की प्रतिज्ञा की और वे सिंध की ओर चल पड़े।

शकों के द्वारा गर्दभिल का पराभव—उस काल में सिंध में शकों का शासन था। उस प्रदेश में ९६ छोटे-छोटे राज्य थे और उन सबके ऊपर एक शक-सम्राट् शासन कर रहा था। अधीन राजाओं को 'शाही' और सम्राट् को 'शाहानुशाही' कहा जाता था। इन अधीन राजाओं में से एक की मित्रता कालकाचार्य से हो गई। परंतु कुछ ही दिनों में तत्कालीन शाहानुशाही तथा कालकाचार्य के मित्र में कुछ मनमुटाव हो गया। अतएव उस सम्राट् के चंगुल से

बचने के लिये कालकाचार्य ने उसे काठियावाड़ भाग जाने की सलाह दी। वह बेचारा काठियावाड़ भाग गया और उसी का अनुसरण कर धीरे धीरे अन्य राजा भी काठियावाड़ भाग गए। वहाँ पर उन लोगों ने छोटे छोटे राज्य स्थापित कर लिए।

आगे चलकर उसी कालकाचार्य के मित्र ने गर्दभिल पर आक्रमण किया और उसे पूर्ण रूप से परास्त कर दिया। बाद में पराभूत गर्दभिल को जंगलों में इधर-उधर भटकते समय शेर का शिकार बनना पड़ा। इधर बंदिनी सरस्वती मुक्त कर दी गई। इस प्रकार कालकाचार्य ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

इतना वर्णन करने के उपरांत कालकाचार्य ने किस प्रकार भड़ौच और प्रतिष्ठान इत्यादि स्थलों की यात्रा की; वहाँ के राजा जैन-धर्मानुयायी कैसे बने इत्यादि का वर्णन है; परंतु उससे हमें कोई सरोकार नहीं।

विक्रमादित्य द्वारा शकों का पराभव और संवत् की स्थापना—प्रथम ८९ श्लोकों में गर्दभिल के पराभव और उज्जयिनी में शक राज्य की स्थापना का वर्णन कर कवि ने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण श्लोक लिखे हैं—

शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत् ॥ ९० ॥
स चोन्नतमहासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्।
मेदिनीमनृणां कृत्वाऽचीकरद्वत्सरं निजम् ॥ ९१ ॥
ततो वर्षशते पंचत्रिंशता साधिके पुनः।
तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरः स्थापितः शकैः ॥९२॥

इन श्लोकों से यह विदित होता है कि जिस शक राजा ने गर्दभिल का पराभव किया वह भी आगे चलकर विक्रमादित्य नामक राजा से पराभूत हुआ। अपनी विजय के उपलक्ष में विक्रमादित्य ने अपने एक संवत् की स्थापना भी की, और उसके १३५ वर्ष बाद शकों ने विक्रम के उत्तराधिकारियों को हराकर अपना निज का शक (संवत्) प्रारंभ किया।

कथावस्तु की सत्यता*

यह बात निश्चय से मानी जा सकती है कि यद्यपि कालकाचार्य की कथा १३वीं शताब्दि में लिखी गई, फिर भी उसमें ऐतिहासिक अंश अच्छे प्रमाण में मिलते हैं। इतिहास से मालूम होता है कि कथा के अनुसार ई० पू० प्रथम शताब्दि के मध्यकाल के लगभग सिंध में शक शासन था। और यह भी निश्चित है कि उन राजाओं को 'शाही' नाम से पुकारा जाता था। यह भी संभवनीय है कि ये शक राजा कुछ काल के अनंतर काठियावाड़ में आ गए हों। ऐतिहासिक प्रमाणों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ई० पू० ६० के आसपास शकों का राज्य उज्जयिनी तक फैला हुआ था। अतएव कालकाचार्य की कथा के अनुसार कुछ ही दिनों के लिये अवंती में रहनेवाले शक राजा का पराभव ई० पू० ५७ के लगभग विक्रमादित्य नामक राजा ने किया यह बात भी पूर्णतया संभव है।

संवत् स्थापना का उल्लेख करनेवाले श्लोक प्रक्षिप्त मालूम पड़ते हैं

इतना सब होने पर भी यह बात सिद्ध नहीं होती कि विक्रमादित्य ने ई० पू० ५७ में शकों का पराभव कर संवत् की स्थापना की। पहली बात तो यह है कि यह कथा १३वीं शताब्दि की लिखी हुई है, अतएव तत्कालीन दंतकथाओं का उस पर असर हुआ है। यह भी स्पष्ट मालूम पड़ता है कि परंपराप्राप्त मूल कथा में उपर्युक्त अभिप्रायवाले श्लोक न थे। बाद में कवि ने प्रचलित कथाओं के आधार से इन श्लोकों का सृजन किया। इन तीन श्लोकों के कारण कथा की धारा खंडित सी जान पड़ती है। मूल कथा में देशद्रोही कालकाचार्य की सहायता जिस शक राजा ने की उसके पराक्रम का वर्णन तो अनिवार्य है; परंतु आगे चलकर विक्रमादित्य ने शक राजा का पराभव-किस प्रकार किया इसका वर्णन अप्रासंगिक जान पड़ता है, क्योंकि उससे कथा की रसोत्पत्ति में बाधा पड़ती है। क्षण भर यदि हम यह बात

---

* नार्वेजियन पुरातत्ववेत्ता कोनौ ने इस कथा को पूर्णतया ऐतिहासिक माना है। एपिग्राफिया इंडिका, भाग १४, पृ० २९१-९५।

भी मान लें कि घटनाओं की लड़ी सी लग जाने के कारण उसका उल्लेख किया गया, तो भी ९२वें श्लोक में विक्रमादित्य के वंशजों की शकों द्वारा १३५ वर्ष बाद होनेवाली पराजय को और नवीन शक संवत् की स्थापना को बतलाने की कोई आवश्यकता न थी। सारांश यह कि श्लोक ८९-९२ में किया गया वर्णन मूल जैन परंपरा में न था। उक्त वर्णन को तेरहवीं शताब्दि में प्रचलित कथाओं से लेकर प्रभावक ने उसमें अंतर्निहित कर दिया। यदि यह बात ई० पू० प्रथम शताब्दि में ही लोक-विश्रुत रहती तब इस संवत् को पहले तो कृत और पीछे से मालव क्यों कहा जाता ?

शत्रुंजय-माहात्म्य का प्रमाण भी अग्राह्य

प्राचीन काल में भी इस संवत् को वि० संवत् कहते थे, इस विधान को पुष्ट करने के लिये जैनों के शत्रुंजय-माहात्म्य का प्रमाण दिया जाता है*। उसके अंत में कहा गया है कि वि० संवत् ४७७ में यह ग्रंथ लिखा गया। यदि इस बात को सही मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा वि० सं० की ५वीं शताब्दि में गुजरात में यह संवत् 'विक्रम संवत्' नाम से रूढ़ था। परंतु उपर्युक्त विधान मूलतः असत्य है। ग्रंथकार का कथन है कि वलभी के अधिपति शिलादित्य ने काठियावाड़ से जिस वि० सं० ४७७ में बौद्धों को निकाल बाहर किया, उसी वर्ष यह ग्रंथ लिखा गया। यह कथन ठीक इस कथन के अनुरूप है कि जिस ११९१ में शिवाजी ने थानेश्वर में मुहम्मद गोरी का पराभव किया उसी वर्ष 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ मल्लिनाथ ने समाप्त किया। सन् ४२० में वलभी में शिलादित्य नामक कोई राजा ही नहीं था, क्योंकि उन दिनों वहाँ पर सम्राट् कुमारगुप्त शासन कर रहे थे। वलभी के शिलादित्य प्रथम सन् ६०५ में और शिलादित्य सप्तम ७६६ में राज्य कर रहे थे। सन् ४२० में शिलादित्य का उल्लेख कर ग्रंथकर्ता ने अपने अगाध ऐतिहासिक अज्ञान एवं असत्य प्रमाणों का प्रदर्शन मात्र किया है। अन्य अकाट्य प्रमाणों से यह बात सिद्ध

---

* कनिंघम—ए बुक ऑव इंडियन इराज्, पृ० ४९।

हो चुकी है कि शत्रुंजय-माहात्म्य का ईसा की १२वीं शताब्दि के पहले लिखा जाना असंभव है*। अतएव उस ग्रंथ से यह बात सिद्ध नहीं होती कि इस संवत् को पाँचवीं शताब्दि में विक्रम संवत् कहा जाता था।

जैन परंपरा का प्रमाण

श्वेतांबर जैन ग्रंथों में यह मिलता है कि वीर-निर्वाण-काल के ४७० वर्ष बाद शकों को हरा कर उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने अपना संवत् स्थापित किया। इन ग्रंथों को प्रमाण तभी माना जा सकता है जब उनका काल वि० सं० की प्रथम या द्वितीय शताब्दि के लगभग सिद्ध हो। परंतु वे ग्रंथ तो बहुत अर्वाचीन हैं और उनमें की कितनी ही बातें जैन दिगंबर ग्रंथों के साथ मेल नहीं खातीं। इन ग्रंथों में वीर-निर्वाण काल वि० सं० के ५४८ वर्ष पूर्व बतलाया गया है। श्वेतांबरों के अनुसार महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ में और दिगंबरों के अनुसार ई० पू० ६०५ में हुआ। परंतु अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से मालूम पड़ता है कि वीर-निर्वाण-काल ई० पू० ४७० के लगभग है। अतएव इस परंपरा को—जो कि अधिकांश विसंगत, अर्वाचीन तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से अपुष्ट है—प्रामाणिक समझकर यह नहीं माना जा सकता कि विक्रमादित्य ने विक्रम संवत् की स्थापना की।

बौद्ध और संस्कृत वाङ्मय

बौद्ध साहित्य विक्रमादित्य के विषय में मौन है। संस्कृत साहित्य के 'वेतालपंचविंशति' तथा 'सिंहासनबत्तीसी' इत्यादि ग्रंथों में विक्रमादित्य के विषय में अनेक दंतकथाएँ और कहानियाँ लिखी हुई हैं। परंतु वे ग्रंथ बहुत ही अर्वाचीन होने के कारण विक्रम संवत् की उपपत्ति को नए विश्वसनीय प्रकाश से आलोकित करने में असमर्थ हैं। आजकल के पुराण-ग्रंथ ईसा की चौथी शताब्दि में लिखे गए हैं। उनमें गुप्त सम्राटों तक का इतिहास मिलता है। विदिशा-उज्जयिनी के पासवाले मालव प्रांत के, ईसा के पूर्व व पश्चात् की दो शताब्दियों के, शासकों की नामावली पुराणों में दी हुई है। परंतु

* विंटरनिट्ज़, ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग २ पृ० ५०३।

उसमें विक्रमादित्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता और इस बात की भी पुष्टि नहीं होती कि उसने कोई नया संवत् चलाया था।

शिलालेखों और जैन, बौद्ध तथा संस्कृत साहित्य का सम्यक् विचार करने के बाद यह बात साफ झलक जाती है कि जनता में जो विक्रमादित्य नामक राजा के वि० सं० की स्थापना करने की धारणा है यह ईसा की आठवीं शताब्दि तक प्रचलित नहीं थी। अतएव वि० सं० के स्थापनकर्ता का पता पाने के लिये हमें प्रथम उद्धृत किए गए बारह प्राचीन शिलालेखों पर ही निर्भर रहना होगा और उन्हीं के आधार पर निष्कर्ष निकालने होंगे।

विक्रम संवत् अर्थात् मालव लोगों का संवत्

प्रथम उद्धृत शिलालेखों के सं० १, २ व ५ के वाक्यों को प्रमाण मानकर कुछ विद्वान् मानते हैं कि वि० सं० की स्थापना मालव लोगों ने की। मालव जाति अत्यंत वीर जाति थी। यहाँ तक कि उन्होंने स्वयं सिकंदर के भी छक्के छुड़ाए थे। उनके यहाँ प्रजातंत्र शासन था। पूर्वकाल में उनका वास-स्थान दक्षिणी पंजाब और उत्तरी सिंध था। परंतु बाद में वे राजपूताना और तदनंतर मालवे में जाकर राज्य करने लगे। कुछ दिनों के लिये उन्हें शकों के हाथ अपना स्वातंत्र्य खोना पड़ा, परंतु ई० पू० ५७ में उन्होंने शकों को पराभूत कर पुनः प्रजातंत्र की स्थापना कर ली। प्रथम उद्धृत किए हुए 'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये' व 'मालवगणस्थिति-वशात् कालज्ञानाय विहितेषु' इन वाक्यांशों में गण अर्थात् प्रजातंत्र राज्य, एवं स्थिति अर्थात् राज्यस्थापना ये ही अर्थ अभिप्रेत हैं। इस प्रकार इन वाक्यों का अर्थ क्रमशः 'मालव प्रजातंत्र के चार शताब्दि उपरांत' व 'मालव प्रजातंत्र से संबद्ध कालगणना के अनुसार' होगा। जिस प्रकार गुप्त संवत् का नाम आगे चलकर 'वलभि संवत्' हो गया, उसी प्रकार 'मालव संवत्' भी 'विक्रम संवत्' कहा जाने लगा।

इस मत पर होनेवाले आक्षेप

यद्यपि उपर्युक्त विचारसरणी आपाततः निर्दोष मालूम पड़ती है, फिर भी उसको स्वीकार करना उतना सरल नहीं है। मालव लोगों की प्रजातंत्र

शासन-प्रणाली प्राचीनतम काल से चली आ रही थी। यद्यपि बीच में मालवनिवासियों का पराभव हुआ, फिर भी उनकी शासन-प्रणाली भंग हो गई हो, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सामान्यतः 'स्थिति' शब्द का अर्थ 'परंपरा', 'संप्रदाय', 'रीति' इत्यादि होता है परंतु 'राज-घटना' नहीं। अतएव उपर्युक्त वाक्यों का उल्था 'मालव प्रजातंत्र में रूढ़ कालगणना के अनुसार' करना ही अधिक सयुक्तिक होगा।

'कृत' नाम की उपपत्ति

यद्यपि मालव लोगों के समय से यह संवत् चल रहा था, और आगे चलकर उसे मालव संवत् कहा भी जाने लगा, फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रारंभ में उसका नाम 'कृत संवत्' ही था। यह बात प्रथम निर्देशित लेखों (७ और १२) से स्पष्ट हो जाती है। इस लेखक ने इन दोनों शिलालेखों को, अभी थोड़े ही दिन हुए, प्रकाशित किया है। इसके पूर्व कृत संवत् के शिलालेख अत्यंत थोड़ी संख्या में प्राप्त थे, और कृत शब्द का अर्थ येन केन प्रकारेण किया जाता था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का यह मत था कि मालव संवत् ही इस संवत् का आदिनाम था। परंतु उसमें चार वर्षों का एक युग माना जाता था। प्रथम वर्ष को कृत, द्वितीय वर्ष को त्रेता, तीसरे को द्वापर और चौथे को कलि कहते थे।* शास्त्रीजी ने जिस समय इस मत का प्रतिपादन किया उस समय केवल सं० ४-६ तक के ही लेख प्राप्त थे। उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये सं० ४ और ६ में उद्धृत ४८० तथा ४२८ वर्षों को गत संवत्सर मान लिया अर्थात् उन्होंने यह माना कि ये दोनों शिलालेख क्रमशः ४८० और ४२८ साल पूरे होने के बाद चालू ४८१ एवं ४२९ में लिखे गए। इस प्रकार यह बतलाने का प्रयत्न किया कि जिस जिस वर्ष को कृत कहा गया है उसे ४ से भाग देने पर शेष १ रहता है और केवल इसी लिये उसे कृत कहा गया है। परंतु प्रस्तुत लेखक द्वारा प्रकाशित किए हुए सं० ७, ६ और १२ के शिलालेखों में आए हुए ३३५, २९५

* एपिग्राफिया इंडिका भाग १२, पृ० ३२०

और २८२ वर्षों को भी कृत नाम दिया गया है और उन्हें चाहे प्रचलित मानकर या गत समझकर ४ से भाग दिया जाय तो १ शेष नहीं रहता। अतएव शास्त्रीजी द्वारा प्रतिपादित कृत नाम की उपपत्ति अस्वीकार्य है।

डा० देवदत्त द्वारा प्रतिपादित मनोरंजक उपपत्ति

विक्रम संवत् का मूल नाम मालव संवत् ही है। उसे 'कृत' नाम इसलिये दिया गया, कि ज्योतिषियों के द्वारा अपनी सहूलियत के लिये वह किया हुआ (बनाया = कृत) था। इस प्रकार का मत डा० देवदत्त भांडारकर ने एक समय प्रतिपादित किया था*। परंतु बाद में उन्होंने अपने पूर्वकथित मत का परित्याग कर एक दूसरी मनोरंजक उपपत्ति बतलाई है। ई० पू० प्रथम और द्वितीय शताब्दि में शकों का क्रूर तथा कठोर शासन चक्र चल रहा था। शासकों के अत्याचारों को देखकर लोगों ने उस काल को कलियुग ही समझ लिया। आगे चलकर शुंगवंशावतंस पुष्यमित्र ने उन दुष्टों का पराभव कर ब्राह्मण धर्म को पुनः प्रतिष्ठापित किया। फलस्वरूप ब्राह्मणों ने इस काल को कृतयुग का प्रारंभकाल मान लिया। और उसी संस्मरणीय प्रसंग के निमित्त एक नवीन संवत् की स्थापना कर उसे 'कृत' नाम दिया गया†।

उपर्युक्त विचारसरणि भी ग्राह्य नहीं जान पड़ती। यदि यह बात लोगों के मन पर जमी रहती कि कृतयुग ईसा के ५७ वर्ष पूर्व ही प्रारंभ हो चुका है, तो पुराणों में ऐसे सैकड़ों विधान क्यों किए जाते कि आजकल कलि ही चल रहा है? पुराणों में पुष्यमित्र और उसके पराक्रमों का वर्णन है, परंतु यह कहीं नहीं लिखा है कि उसने एक नया शक संवत् स्थापित किया। साथ ही यह बात भी अब सर्वमान्य हो गई है कि पुष्यमित्र का शासनकाल लगभग ई० पू० १८० से १५० था न कि ई० पू० ६० के लगभग।

संवत् का मूल नाम 'कृत' ही है

ऊपर उद्धृत किए हुए संवत् ४६१ वाले लेख में संवत् का वर्णन 'मालव' लोगों में रूढ़, तथा 'कृत' विशेष नाम से संबोधित (मालवगणाम्नात,

* इंडियन ऐंटीक्वेरी भाग ४२, पृ० १६२

† वही ६१, पृ० १०१-१०३

कृतसंज्ञिते) ऐसा किया गया है। अतएव इसमें कोई शंका नहीं कि आज तक उपलब्ध इस संवत् के नामों में 'कृत' नाम सबसे प्राचीन है। संवत् ४६१ के पूर्व के किसी भी शिलालेख में इसे मालव संवत् नहीं कहा गया है। अत्यधिक प्राचीन अर्थात् तीसरी-चौथी शताब्दि के छहों लेखों में से प्रत्येक में इस संवत् को कृत संवत् ही कहा गया है, यह बात उपयुक्त अवतरणों (७-१२) से स्पष्ट हो जाती है। आगे चलकर कुछ काल तक यह संवत् मालव और कृत इन दोनों नामों से प्रसिद्ध था। परंतु पाँचवीं शताब्दि के अंत में कृत नाम हटकर मालव नाम ही रूढ़ हुआ। आगे चलकर नवीं शताब्दि में 'मालव संवत्' नाम भी अप्रसिद्ध होने लगा और उसका स्थान विक्रम संवत् ने ले लिया।

'कृत' नाम की उपपत्ति

कृत वर्ष के—बनावटी वर्ष, बीता हुआ वर्ष, चतुर्वार्षिक युगों का प्रथम वर्ष, इत्यादि—अर्थ किस प्रकार अग्राह्य हैं इसका निर्देश ऊपर हो ही चुका है। मेरी यह धारणा है कि कृत नामक किसी राजा अथवा अधिनेता ने इसकी नींव डाली और उसी के कारण इसे कृत संवत् कहा जाने लगा। जिस प्रकार 'छत्रपति शक' छत्रपति शिवाजी महाराज ने प्रारंभ किया, चालुक्य विक्रम शक विक्रमादित्य ने (११७५ में) शुरू किया, हर्ष शक की नींव हर्ष ने डाली, गुप्त संवत् गुप्त सम्राटों के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार 'कृत संवत्' कृत नामक किसी अधिपति या महान् व्यक्ति ने स्थापित किया, ऐसा मानने में क्या हानि है? इस पर कहा जा सकता है कि 'कृत' किसी व्यक्ति का नाम था यह बात प्रसिद्ध नहीं है, यही इस उपपत्ति में बड़ा भारी दोष है। परंतु वास्तव में यह आक्षेप भी अकाट्य नहीं है। यह सत्य है कि गत १०००,१५०० वर्षों में कृत नामक कोई अधिपति नहीं हुआ है, परंतु यदि हम पुराणों की ओर दृष्टिपात करते हैं, तब देखते हैं कि कृत नाम का भी काफी बोलबाला था। विश्वेदेवों में से एक का नाम कृत था, वसुदेव-रोहिणी के एक पुत्र का भी नाम कृत था, हिरण्यनाभ का इसी नाम का शिष्य था और उपरिचर के पिता को भी इसी नाम से संबोधित करते थे। इसलिये यह

कहना निर्मूल है कि कृत-संज्ञक कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता। प्राचीन काल में यह नाम अच्छी तरह से प्रचलित था।

कृत की विजय का स्मारक

चूँकि यह ऐतिहासिक सत्य है कि ईसा-पूर्व ६० के लगभग शकों ने उज्जयिनी को हस्तगत किया था और कुछ ही दिनों में उन्हें उस नगरी का परित्याग भी करना पड़ा, इसलिये यह मानना पड़ता है कि प्राचीन परंपरा के अनुसार शकों के पराभव के संस्मरणार्थ ईसा से ५७ वर्ष पूर्व में एक नए संवत्सर की स्थापना हुई। इस काल-गणना का प्रारंभ प्रथमतया मालव देश में ही हुआ और उसे 'मालवनिवासियों द्वारा स्वीकृत काल-गणना' (श्रीमालवगणाम्नात) ही कहा जाता था। ई० पू० प्रथम एवं द्वितीय शताब्दियों में मालव जाति राजपूताना और मालव प्रांत में प्रबल थी। अतएव यह भी स्पष्ट है कि ई० पू० ५७वाली शक-पराजय मालव के राष्ट्रपति ने ही की होगी। इस समय के मालव-राष्ट्रपति या सेनाध्यक्ष का वैयक्तिक नाम 'कृत' रहा होगा। उसके महान् पराक्रम का मूल्य चुकाने के लिये, जिस संवत् की स्थापना की गई उसे मालव संवत् के साथ साथ कृत संवत् भी कहा गया होगा। यह बात भी संभव है कि कृत को उसके पराक्रम के उपलक्ष में 'विक्रमादित्य' नामक उपाधि भी दी गई हो परंतु इस बात का कोई प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं। उस वीर के नाम से जिस संवत् का प्रारंभ किया गया वह ३-४ शताब्दियों तक 'कृत संवत्' नाम से ही अधिक प्रसिद्ध था। आगे चलकर लोग उसके पराक्रमों को भूलने लगे और चूँकि यह कालगणना मालव राज्य में ही अधिक प्रसिद्ध थी अतएव इसे 'मालव संवत्' कहा जाने लगा। आठवीं, नवीं शताब्दियों तक यह संवत् मालवा और उसके पासवाले राजपूताने के भाग में ही प्रचलित था, परंतु जैसे जैसे उसका क्षेत्र बढ़ता गया और वह बुंदेलखंड, संयुक्त प्रांत, गुजरात, काठियावाड़ इत्यादि प्रांतों में फैलने लगा वैसे वैसे लोग 'विक्रम संवत्' नाम से उसे पहचानने लगे और 'मालव संवत्' नाम लोगों की दृष्टि से हटने लगा।

विक्रम का नाम कैसे चल पड़ा ?

यह नया नाम क्यों और कैसे चल पड़ा ? इसका निश्चित और निर्णायक उत्तर देना आज तो कम से कम अशक्य है। इस समय तक मालव लोगों की सत्ता और शासन-प्रणाली भंग हो चुकी थी, अतएव किसी प्रसिद्ध राजा के नाम से इस संवत् का नामाभिधान कर दिया जाय यह बात लोगों के मन में जम गई। इस समय तक सारे भारत में पाँचवीं शताब्दि के गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय का यश—उसकी दानशूरता, विद्वत्ता तथा शक-पराजय के कारण—गाया जा रहा था। साथ ही यह राजा 'विक्रमादित्य' नाम से प्रसिद्ध भी था। गुप्तों का स्वयं स्थापित गुप्त संवत् इस समय लुप्त हो चला था। अतएव यह सोचकर, कि मालव संवत् को यदि विक्रम संवत् नाम दिया जाय तो वह केवल प्रादेशिक न होकर सर्वमान्य भी होगा और इस प्रकार एक नव शकारि का ही गौरव होगा, लोगों ने इसे विक्रम संवत् कहना प्रारंभ किया होगा*।

प्रथमत: यह नाम उतना लोकप्रिय नहीं हुआ। आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों के लगभग ५२ शिलालेख मिलते हैं परंतु उनमें केवल तीन ही स्थलों पर इसे विक्रम संवत् कहा गया है। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में वि० सं० नाम अधिक लोकप्रिय हुआ। इसका अधिकतर श्रेय गुजरात के चालुक्य नरेशों को दिया जाना चाहिए। संयुक्तप्रांतांतर्गत गहड़वाल राज्य के इस समय के लेखों में विक्रम संवत् का ही उपयोग किया गया है, परंतु वहाँ भी उसे केवल संवत् या संवत्सर ही कहा गया है, विक्रम के साथ उसका संबंध नहीं दिखाया गया है। चालुक्यों ने तो इस संवत् के विक्रम नाम की

---

* अब यह भी माना जा सकता है कि जिस कृत नामक प्रजाध्यक्ष ने इस संवत् की स्थापना की उसका उपनाम (दूसरा नाम) विक्रमादित्य था और नवीं शताब्दि के ऐतिहासिकों ने संवत् को वह नाम देकर उसका पुनरुज्जीवन किया। पर यह अधिक संभव नहीं। यदि ऐसी ही बात थी तो प्रारंभ से ही वह नाम क्यों नहीं दिया गया ? नवीं शताब्दि के लोगों को यह बात कैसे ज्ञात हो गई ? विक्रमादित्य नाम प्रथम शताब्दि में इतना लोकप्रिय भी न था, यह बात भी उल्लेखनीय है।

प्रथा जोरों से चलाई। इस वंश के संस्थापक मूलराज के लेखों में (सन् ९६१-९९६) केवल 'संवत्' कहा गया है। भीमदेव (१०२२—६४) के लेखों और कर्णदेव (१०६४-१०९४) के लेखों में विक्रम संवत् लिखा मिलता है। जयसिंह (१०९४-११४४), कुमारपाल (११४४-११७४) और अजयपाल (११७४-११७६) के लेखों में 'श्रीमद्विक्रम संवत्' का उल्लेख है। तदनंतर भीमदेव द्वितीय (११७८-१२३१) के शासनकाल में लिखित लेखों में 'श्रीमद्विक्रमादित्योत्पादितसंवत्सर' (श्री विक्रमादित्य द्वारा प्रारंभ किया हुआ संवत्सर) और 'श्रीमद् विक्रमनृपकालातीतसंवत्सर' (श्री विक्रमादित्य राजा के संवत् के वर्षानुसार) लिखा मिलता है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि यवनकाल के प्रारंभ में ही गुजरात में वि० सं० लोकमान्य हो गया था। अन्य प्रांतों के ज्योतिषियों ने भी स्वरचित पंचागों में उसको स्वीकार कर उसे भारत में लोकप्रिय बना दिया।

उपसंहार

विक्रम संवत् के विषय में आज तक जो कुछ मिल सका है उसका विवेचन ऊपर किया गया है। साथ ही साथ उस साहित्य के मंथन से विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनका भी दिग्दर्शन कराया गया है। पाठक समझ सकते हैं कि इतने अल्प साहित्य के आधार पर कोई निश्चयात्मक निर्णय देना कठिन है। यदि इस संवत् के प्रथम और द्वितीय शताब्दि के शिलालेख प्राप्त हों और उनमें भी इस संवत् को कृत संवत् नाम ही दिया गया हो तो लेखक ने जिस मत का प्रतिपादन किया है वह सर्वमान्य हो सकता है। भविष्य के गर्भ में छिपे हुए अति प्राचीन लेखों में या साहित्य में इस संवत् को विक्रमादित्य संवत् नाम दिया गया हो तो उपर्युक्त मत अग्राह्य होगा। परंतु विक्रम नामांकित प्रथम या द्वितीय शताब्दि के लेखों की प्राप्ति आज तो असंभव सी मालूम होती है। अतएव इस क्षण यह बात तर्कसंगत जान पड़ती है कि मालव प्रजातंत्र के कृत नामक राष्ट्रपति या सेनाध्यक्ष ने इस संवत् की स्थापना ई० पू० ५७ में की और आगे चलकर वही प्रथमतः मालव संवत् और ९वीं शताब्दि के अनंतर विक्रम संवत् नाम से प्रसिद्ध हुआ।

विक्रमादित्य

[लेखक—डा० राजबली पांडेय, एम० ए०, डी० लिट्]

जनश्रुति—मर्यादापुरुषोत्तम राम और कृष्ण के पश्चात् भारतीय जनता ने जिस शासक को अपने हृदय-सिंहासन पर आरूढ़ किया है वह विक्रमादित्य है। उनके आदर्श न्याय और लोकसंग्रह की कहानियाँ भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित हैं और आबाल वृद्ध सभी उनके नाम और यश से परिचित हैं। उनके संबंध में यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि वे उज्जयिनीनाथ गंधर्वसेन के पुत्र थे। उन्होंने शकों को परास्त करके अपनी विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदास आदि महाकवियों के आश्रय-दाता थे। भारतीय ज्योतिषगणना से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने विक्रम संवत् का प्रचार किया था।

अनुश्रुति—भारतीय साहित्य में अंकित अनुश्रुति ने भी उपर्युक्त जनश्रुति को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है:—

(१) अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य का प्रथम उल्लेख गाथासप्तशती में इस प्रकार मिलता है—

> संवाहण सुह रस तोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
> चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा॥ ५।६४

इसकी टीका करते हुए गदाधर लिखते हैं—"पक्षे संवाहणं संबाधनम्। लक्खं लक्षम्। विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षं ददातीत्यर्थः।" इससे यह प्रकट होता है कि गाथा के रचना-काल में यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे जिन्होंने शत्रुओं के ऊपर विजय के उपलक्ष में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था। गाथा-सप्तशती का रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दि ईस्वी पश्चात् हुआ था। अतः इसके पूर्व विक्रमादित्य की ऐति-

हासिकता सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रतिपादन महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अच्छी तरह किया था (एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १२, पृ० ३२०)। इसके विरुद्ध डॉ० देवदत्त रामकृष्ण भांडारकर ने गाथा-सप्तशती में आए हुए ज्योतिष के संकेतों के आधार पर कुछ आपत्तियाँ उठाई थीं (भांडारकर स्मारकग्रंथ, पृ० १८७-१८९), किंतु इनका निराकरण म० म० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भली भाँति कर दिया है (प्राचीन लिपि-माला, पृ० १६८)।

(२) जैन पंडित मेरुतुंगाचार्य-रचित पटावली में लिखा है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी में तेरह वर्ष तक राज्य किया। उसके अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शकों को बुलाकर उसका उन्मूलन किया। शकों ने उज्जयिनी में चौदह वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य वापस कर लिया। यह घटना महावीर-निर्वाण के ४७०वें वर्ष (५२७-४७० = ५७ ई० पू०) में हुई। विक्रमादित्य ने साठ वर्ष तक राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्य ने ४० वर्ष तक शासन किया। तत्पश्चात् भैल्ल, नैल तथा नाहड़ ने क्रमशः ११, १४ तथा १० वर्ष राज्य किया। इस समय वीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष पश्चात् ६०५–५२७ = ७८ ई० पू०) शक संवत् का प्रवर्तन हुआ।

(३) प्रबंधकोष के अनुसार महावीर-निर्वाण के ४७० वर्ष बाद (५२७–४७० = ५७ ई० पू०) विक्रमादित्य ने संवत् का प्रवर्तन किया।

(४) धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुंजय-माहात्म्य में इस बात का उल्लेख है कि वीर (महावीर) संवत् के ४६६ वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव होगा। उनके ४७७ वर्ष पश्चात् शिलादित्य अथवा भोज शासन करेगा। इस ग्रंथ की रचना ४७७ विक्रम संवत् में हुई जब कि वलभी के राजा शिलादित्य ने सुराष्ट्र से बौद्धों को खदेड़ कर कई तीर्थों को उनसे वापस किया था। (देखिए डॉ० भाऊ दाजी, जरनल आफ बांबे एशियाटिक सोसायटी, जिल्द ६, पृ० २९-३०)।

(५) सोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर (लंबक १८ तरंग १) में भी विक्रमादित्य की कथा आती है। इसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनी के

राजा थे। इनके पिता का नाम महेंद्रादित्य तथा माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेंद्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रांत थी। अतः इसके त्राण के लिये देवताओं ने भी शिव से प्रार्थना की। शिवजी ने अपने गण माल्यवान्* को बुलाकर कहा कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिये तुम मनुष्य का अवतार लेकर उज्जयिनीनाथ महेंद्रादित्य के यहाँ पुत्ररूप से उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होने पर शिवजी के आदेशानुसार महेंद्रादित्य ने उसका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रुसंहारक होने के कारण) विषमशील रखा। बालक विक्रमादित्य पढ़-लिखकर सब शास्त्रों में पारंगत हुआ और प्राप्तवय होने पर उसका अभिषेक किया गया। वह बड़ा ही प्रजावत्सल राजा हुआ। उसके बारे में लिखा है—

स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः सः प्रजानां कः स नाभवत् ॥ १८।१।६६

(वह पितृहीनों का पिता, बंधुरहितों का बंधु और अनाथों का नाथ था। प्रजा का वह क्या नहीं था?) इसके अनंतर विक्रमादित्य की विस्तृत विजयों और अद्भुत कृत्यों का अतिरंजित वर्णन है।

कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रंथ होते हुए भी क्षेमेंद्र-लिखित बृहत्कथामंजरी और अंततोगत्वा गुणाढ्य-रचित बृहत्कथा पर अवलंबित है। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था जो विक्रमादित्य से लगभग १०० वर्ष पीछे हुआ था। अतः सोमदेव द्वारा कथित अनुश्रुति विक्रमादित्य के इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हो सकती। सोमदेव के संबंध में एक और बात ध्यान देने की है। वे उज्जयिनी के विक्रमादित्य के अतिरिक्त एक दूसरे विक्रमादित्य को भी जानते हैं जो पाटलिपुत्र का राजा था—'विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके' (लंबक ७, तरंग ४)। इसलिये जो आधुनिक ऐतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्रनाथ गुप्त सम्राटों को केवल उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य से अभिन्न समझते हैं वे अपनी परंपरा और अनुश्रुति के साथ अत्याचार करते हैं।

* कथा की पौराणिक शैली में 'गण' से गणतंत्र और 'माल्यवान्' से मालव जाति का आभास मिलता है।

(६) द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, राजावली आदि ग्रंथों तथा राजपूताने में प्रचलित (टॉड्स राजस्थान में संकलित) अनुश्रुतियों में उज्जयिनीनाथ शकारि विक्रमादित्य की अनेक कथाएँ मिलती हैं।

साधारण जनता की जिज्ञासा इन्हीं अनुश्रुतियों से तृप्त हो जाती है और वह परंपरा से परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्य के संबंध में अधिक गवेषणा करने की चेष्टा नहीं करती। किंतु आधुनिक ऐतिहासिकों के लिये केवल अनुश्रुति का प्रमाण पर्याप्त नहीं। वे देखना चाहते हैं कि अन्य साधनों द्वारा ज्ञात इतिहास से परंपरा और अनुश्रुति की पुष्टि होती है या नहीं। विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के संबंध में वे निम्नलिखित प्रश्नों का समाधान करना चाहते हैं:—

ऐतिहासिक प्रश्न—(१) विक्रमादित्य ने जिस संवत् का प्रवर्तन किया था उसका प्रारंभ कब से होता है?

(२) क्या प्रथम शताब्दि ई० पू० में कोई प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष मालव प्रांत में हुआ था या नहीं?

(३) क्या उस समय कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी जिसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था?

इन प्रश्नों को लेकर अब तक प्राय: जो ऐतिहासिक अनुसंधान होते रहे हैं उनका सारांश संक्षेप में इस प्रकार दिया जाता है:—

(१) यद्यपि ज्योतिष-गणना के अनुसार विक्रम संवत् का प्रारंभ ५७ ई० पू० में होता है किंतु विक्रम की प्रथम कई शताब्दियों तक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों में इस संवत् का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता। मालव प्रांत में प्रथम स्थानीय संवत् 'मालवगण-स्थिति-काल' था जिसका पता मंदसोर प्रस्तर-लेख से लगा है—'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये' (फ्लीट, गुप्त-उत्कीर्ण लेख सं० १८)। यह लेख पाँचवीं शताब्दि ई० प० का है।

(२) प्रथम शताब्दि ई० पू० में किसी प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष का मालव प्रांत में पता नहीं।

(३) इस काल में कोई ऐसी क्रांतिकारी घटना मालव प्रांत में नहीं हुई जिसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त खोजों से यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताब्दि ई० पू० में विक्रमादित्य नामक कोई शासक नहीं हुआ। तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पनाप्रसूत है। संभवतः मालव संवत् का प्रारंभ ई० पू० प्रथम शताब्दि में हुआ था। पीछे से 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी किसी राजा ने अपना विरुद इसके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता बहुत से विद्वानों के मत में असिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्याविशारदों ने प्रथम शताब्दि ई० पू० के लगभग इतिहास में प्रसिद्ध राजाओं को विक्रम संवत् का प्रवर्तक सिद्ध करने की चेष्टा प्रारंभ की।

आनुमानिक मत —(१) फर्गुसन ने एक विचित्र मत का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि जिसको ५७ ई० पू० में प्रारंभ होनेवाला विक्रम संवत् कहते हैं वह वास्तव में ५४४ ई० प० में प्रचलित किया गया था। उज्जयिनी के राजा विक्रम हर्ष ने ५४४ ई० में म्लेच्छों (शकों) को कोरूर के युद्ध में हराकर विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रचार किया। इस संवत् को प्राचीन और आदरणीय बनाने के लिये इसका प्रारंभकाल ६ × १०० (अथवा १० × ६०) = ६०० वर्ष पीछे फेंक दिया गया। इस तरह ५६ ई० पू० में प्रचलित विक्रम संवत् से इसको अभिन्न मान लिया गया है। किंतु क्यों ६०० वर्ष ही पहले इसका प्रारंभ ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नहीं है। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० प० के पूर्व के मालव संवत् ५२९ (मंदसोर प्रस्तर-अभिलेख, फ्लीट : गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८) तथा विक्रम संवत् ४३० (कावी अभिलेख, इंडियन ऐंटिक्वेरी, १८७६, पृ० १५२) के प्रयोग मिल जाने से फर्गुसन के मत का भवन ही धराशायी हो जाता है। (फर्गुसन के मत के लिये देखिए, इंडियन ऐंटिक्वेरी वर्ष १८७६, पृ० १५२)।

(२) डॉ० फ्लीट का मत था कि ५७ ई० पू० में प्रारंभ होनेवाले विक्रम संवत् का प्रवर्तन कनिष्क के राज्यारोहण-काल से शुरू होता है (जरनल आफ् दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी, वर्ष १९०७, पृ० १६९)। अपने मत के समर्थन में उनकी दलील यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहास का एक प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना की।

बौद्ध धर्म के इतिहास में भी अशोक के बाद उसका स्थान है। ऐसे प्रतापी राजा का संवत् चलाना बिल्कुल स्वाभाविक था। परंतु यह डॉ० फ्लीट के अतिरिक्त प्राय: अन्य किसी विद्वान् को मान्य नहीं है। प्रथम तो अभी कनिष्क का समय ही अनिश्चित है। दूसरे एक विदेशी राजा के द्वारा देश के एक कोने में प्रवर्तित संवत् देशव्यापी नहीं हो सकता था। तीसरे यह बात प्राय: सिद्ध है कि कुषाणों ने काश्मीर तथा पंजाब में जिस संवत् का व्यवहार किया था वह पूर्वप्रचलित सप्तर्षि संवत् था जिसमें सहस्र तथा शत के अंक लुप्त थे। यदि यह बात अमान्य भी समझी जाय तो भी कुषाण संवत् वंशगत था और कुषाणों के बाद पश्चिमोत्तर भारत में इसका प्रचार नहीं मिलता।

(३) श्री वेलंडे गोपाल ऐयर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का तिथिक्रम' (क्रॉनोलॉजी आफ् ऐंशेंट इंडिया), पृष्ठ १७१... में इस मत का प्रतिपादन किया है कि विक्रम संवत् का प्रवर्तक सुराष्ट्र का महाक्षत्रप चष्टन था। "विक्रम संवत् वास्तव में मालव संवत् है। मंदसोर प्रस्तर-लेख में स्पष्ट बतलाया गया है कि मालव जाति के संघटन-काल से इसका प्रचलन हुआ (मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये—फ्लीट, गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८)। कुषाणों द्वारा इस संवत् का प्रवर्तन नहीं हो सकता था। एक तो कनिष्क का समय विक्रमकालीन नहीं, दूसरे यह बात सिद्ध नहीं कि उसका राज्य कभी मथुरा और बनारस के आगे भी फैला था। क्षत्रपों के अतिरिक्त किसी अन्य दीर्घजीवी राजवंश का पता नहीं जिसका मालव प्रांत पर आधिपत्य हो और जिसको संवत् का प्रवर्तक माना जा सके। जब हम इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए रुद्रदामन् के गिरनार लेख में पढ़ते हैं कि 'सब वर्णों ने अपनी रक्षा के लिये उसको अपना अधिपति चुना था' (सर्ववर्णैरभिगम्य पतित्वे वृतेन—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ८, पृ० ४७) तब यह बात हम स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरात की सब जातियों ने उसको अपना राजा निर्वाचित किया था जिस तरह कि इसके पूर्व उन्होंने रुद्रदामन् के पिता जयदामन् और उसके पितामह चष्टन को चुना था। प्राचीन ग्रंथ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि 'पश्चिम के सभी राजाओं का अभिषेक स्वाराज्य के लिये होता है और उनकी उपाधि स्वराट् होती है।' इन स्वतंत्र जातियों ने एकता में शक्ति का अनुभव

करते हुए तथा आवश्यकता के सामने सिर झुकाकर अपने ऊपर विजयी चष्टन के आधिपत्य में अपने को एकत्र करके संघटित किया। यही महान् घटना—एक बड़े शासक के आधिपत्य में मालव जातियों का संघटन—५७ ई० पू० में संवत् के प्रवर्तन से उपलक्षित हुई। तब से यह संवत् मालवा में प्रचलित है। चष्टन और रुद्रदामा ने मालव के पड़ोसी प्रांतों पर भी शासन किया इसलिये संवत् का प्रचार विंध्य पर्वत के उत्तर के प्रदेशों में भी हो गया।"

ऐयर महोदय का यह कथन कि विक्रम संवत् वास्तव में मालव संवत् है स्वतः सिद्ध है। कनिष्क के विक्रम संवत् के प्रवर्तक होने के विरोध में उनका तर्क भी युक्तिसंगत है। किंतु कनिष्क से कहीं स्वल्प शक्तिशाली प्रांतीय विदेशी क्षत्रप, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवन का कोई अंग संलग्न नहीं था, संवत् के प्रवर्तन में कैसे कारण हो सकता था, यह बात समझ में नहीं आती। रुद्रदामा के अभिलेख में सब वर्णों द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख केवल प्रशस्तिमात्र है। प्रत्येक शासक अपने अधिकार को प्रजासम्मत कहने की नीति का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त यदि रुद्रदामा लोकप्रिय हो भी गया हो तो भी उसका यह गुण दो पीढ़ी पहले चष्टन में, संघर्ष की नवीनता तथा तीव्रता के कारण, नहीं आ सकता था। श्री ऐयर की यह युक्ति अत्यंत उपहसनीय मालूम पड़ती है कि मालवगण ने चष्टन के आधिपत्य में अपना संघटन किया और इसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन किया। राजनीति का यह एक साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियों को तुरंत संघटित होने का अवसर नहीं देता। फिर अपने पराजय-काल से मालवों ने संवत् का प्रारंभ किया हो, यह बात भी असाधारण मालूम पड़ती है।

(४) स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने जैन अनुश्रुति के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि "जैन गाथाओं और लोकप्रिय कथाओं का विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि था। प्रथम शताब्दि ई० पू० में मालवा में मालवगण वर्तमान था, जैसा कि उसके प्राप्त सिक्कों से सिद्ध होता है। शातकर्णि और मालवगण की संयुक्त शक्ति ने शकों को पराजित किया। इसलिये शकों के पराजय में मुख्य भाग लेनेवाले शातकर्णि 'विक्रमादित्य' के विरुद से विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ। मालवगण ने भी उसके साथ संधि के विशेष

ठहराव (स्थिति, आम्नाय) के अनुसार अपना इस समय संघटन किया और इसी समय से मालवगण-स्थिति-काल भी प्रारंभ हुआ (जरनल आफ् बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द १६, वर्ष १९३०)।

उपर्युक्त कथन में मालव-सातवाहन-संघ का बनना तो स्वाभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनों का अस्तित्व होता), किंतु शातकर्णि विक्रमादित्य (?) के विजय से मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ संधि करके मालव संवत् का प्रवर्तन किया, यह बात काल्पनिक है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने न केवल शकों को हराया किंतु शक, छहरात, अवंति, आकरादि अनेक प्रांतों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उत्कीर्ण लेख, एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ८, पृ० ६०)। अतः उसके दिग्विजय की घटना मालवगण-स्थिति के काफी बाद की जान पड़ती है। साहित्य तथा उत्कीर्ण लेख किसी से भी इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि किसी सातवाहन राजा ने कभी विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। सातवाहन राजाओं का तिथिक्रम अभी तक अनिश्चित है। अपने विभिन्न मतों की सिद्धि के लिये विद्वानों ने उसको चपलें में डाल रखा है। किंतु बहुसम्मत सिद्धांत यह है कि काण्वों के पश्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनों का प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दि ई० पू० के अपरार्द्ध में हुआ। इसलिये आंध्रवंश का तेइसवाँ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि प्रथम शताब्दि ई० पू० में नहीं रखा जा सकता। सातवाहन राजाओं के लेखों में जो तिथियाँ दी हुई हैं वे उनके राज्यवर्षों की हैं; उनमें विक्रम संवत् या अन्य किसी क्रमबद्ध संवत् का उल्लेख नहीं है। जायसवाल के इस मत के संबंध में सब से अधिक निर्णायक गाथासप्तशती का प्रमाण है। आंध्रवंश के सत्रहवें राजा हाल के समय में लिखित यह विक्रमादित्य के अस्तित्व और यश से परिचित है, अतः इस वंश का तेइसवाँ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि तो किसी अवस्था में विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न—इस तरह विक्रमादित्य के अनुसंधान में प्राच्यविद्याविशारदों ने अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। किंतु इस प्रकार के प्रयत्न से विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की समस्या हल

नहीं होती। यदि परंपरा के समुचित आदर के साथ साधो ऐतिहासिक खोज की जाय तो संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य का पता सरलता से लग सकता है। वास्तविक विक्रमादित्य के लिये निम्नलिखित शर्तों का पूरा करना आवश्यक है —

(१) मालव प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी,

(२) शकारि होना,

(३) ५७ ई० पू० में संवत् का प्रवर्तक होना और

(४) कालिदास का आश्रयदाता।

अनुशीलन —(१) यह बात अब ऐतिहासिक खोजों से सिद्ध हो गई है कि प्रारंभ में मालव प्रदेश में प्रचलित होनेवाला संवत् मालवगण का संवत् था। सिकंदर के भारतीय आक्रमण के समय मालव जाति पंजाब में रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गण संघ ने सिकंदर का विरोध किया था, किंतु पारस्परिक फूट के कारण मालवगण अकेला लड़कर यूनानियों से हार गया। इसके पश्चात् मौर्यों के कठोर नियंत्रण से मालव जाति निष्प्रभ सी हो गई। मौर्य साम्राज्य के अंतिम काल में जब पश्चिमोत्तर भारत पर बाख्त्रियों के आक्रमण प्रारंभ हुए तब उत्तरापथ की मालवादि कई गणजातियाँ वहाँ से पूर्वी राजपूताना होते हुए मध्य-भारत पहुँचीं और वहाँ पर उन्होंने अपने नए उपनिवेश स्थापित किए। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति लेख से सिद्ध है कि चौथी शताब्दि ई० प० के पूर्वार्द्ध में उसके साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर कई गण-राष्ट्र वर्तमान थे। किंतु इसके भी पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दि ई० पू० में मालव जाति आकर-अवंति (मालव प्रांत) में पहुँच गई थी, यह बात मुद्राशास्त्र से प्रमाणित है। यहाँ पर एक प्रकार के सिक्के मिले हैं जिन पर ब्राह्मी अक्षरों में 'मालवानां जय:' लिखा है (इंडियन म्यूजियम क्वायन्स, जिल्द १, पृ० १६२; कनिंगहैम : आर्केलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट; जिल्द ६, पृ० १६५-७४)।

(२) ई० पू० प्रथम शताब्दि के मध्य में मगध-साम्राज्य का भग्नावशेष काण्वों की क्षीण शक्ति के रूप में पूर्वी भारत में बचा हुआ था। बाख्त्रियों के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत शकों द्वारा आक्रांत होने लगा। शक जाति ने सिंध प्रांत के रास्ते भारतवर्ष में प्रवेश किया। यहाँ से उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवंति-आकर की ओर बढ़ने लगी। इस बढ़ाव में शकों का

मध्यभारत के गणराष्ट्रों से संघर्ष होना बिलकुल स्वाभाविक था। बाहरी आक्रमण के समय गणजातियाँ संघ बनाकर लड़ती थीं। इस संघ का नेतृत्व मालवगण ने लिया और शकों को पीछे ढकेलकर सिंध प्रांत के छोर पर कर दिया। कालकाचार्य-कथा में शकों को निमंत्रण देना, अवंति के ऊपर उनका अस्थायी आधिपत्य और अंत में विक्रमादित्य के द्वारा उनका निर्वासन—इन सभी घटनाओं का मेल इतिहास की उपर्युक्त धारा से बैठ जाता है।

(३) शकों को पराजित करने के कारण मालवगणमुख्य का शकारि एक विरुद हो गया। यद्यपि इस घटना से शकों का आतंक सदा के लिये दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रांतिकारी घटना थी और इसके फल-स्वरूप लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक भारतवर्ष शकों के आधिपत्य से सुरक्षित रहा। इसलिये इस विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हुआ और मालवगण के दृढ़ होने से इसका गण—नाम मालवगण-स्थिति या मालव-गणकाल पड़ा।

(४) अब यह विचार करना है कि क्या मालवगण-मुख्य कालिदास के आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं ? अभिज्ञानशाकुंतल की कतिपय प्राचीन प्रतियों में नांदी के अंत में लिखा मिलता है कि इस नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की परिषद् में हुआ था, यथा—सूत्रधार—आर्ये इयं हि रसभाव विशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्, अस्यां च कालिदास-प्रथितवस्तुना नवेन अभिज्ञानशाकुंतलनामधेयेन नाटकेन उपस्थातव्यम् अस्माभिः, तत् प्रतिपात्रम् आधीयतां यत्नः। (नांद्यंते—जीवानंद विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १६१४ ई०)। प्रायः अभी तक विक्रमादित्य एक तांत्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं। किंतु काशी-विश्वविद्यालय में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष पं० केशवप्रसाद मिश्र के पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुंतल की एक हस्तलिखित प्रति (प्रतिलेखनकाल—अगहन सुदि ५ संवत् १६९९ वि०) ने विक्रमादित्य का गण से संबंध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नांकित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं :—

अ—आर्ये, रसभावशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य साहसांकस्याभिरूप-भूयिष्ठेयं परिषत्। अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्था-तव्यमस्माभिः। (नान्द्यन्ते)

आ—भवतु तव बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु

त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।

गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-

र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ (भरतवाक्य)

उपर्युक्त अवतरणों में मोटे टाइपों में छपे पदों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जिस विक्रमादित्य का यहाँ निर्देश है उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि साहसांक है। भरतवाक्य का 'गण' शब्द राजनैतिक अर्थ में 'गण-राष्ट्र' का द्योतक है। 'शत' संख्या गोल और अतिरंजित है और 'गणशत' का अर्थ कई गणों का गण-संघ है। 'गण' शब्द के इस अर्थ की संगति अवतरण अ० के मोटे टाइपों में छपे पद से बैठती है। विक्रमादित्य के साथ कोई राजतांत्रिक उपाधि नहीं लगी हुई है। यदि यह अवतरण छंदोबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि छंद की आवश्यकता-वश उपाधियों का प्रयोग नहीं किया गया है, किंतु गद्य में इनका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नहीं थे, अपितु गणमुख्य थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार गणराष्ट्र कई प्रकार के थे—कुछ वार्तोशस्त्रोपजीवी, कुछ आयुधजीवी और कुछ राजशब्दोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण वार्तोशस्त्रोपजीवी था। इसी लिये विक्रमादित्य के साथ राजा या अन्य किसी राजनैतिक उपाधि का व्यवहार नहीं हुआ है।

इन अवतरणों के सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालवगणमुख्य थे। उन्होंने शकों को उनके प्रथम बढ़ाव में पराजित करके इस क्रांतिकारी घटना के उपलक्ष में मालवगण-स्थिति नामक संवत् का प्रवर्तन किया जो आगे चलकर विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदास आदि कवियों और कलाकारों के आश्रयदाता थे।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि मालवगण-स्थिति अथवा मालव संवत् का विक्रम संवत् नाम कैसे पड़ा? इसका समाधान यह है कि संवत् का नाम प्रारंभ में गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योंकि लोकतांत्रिक राष्ट्र में गण की प्रधानता होती है, व्यक्ति की नहीं। पाँचवीं शताब्दि ई० पू० के पूर्वार्द्ध में चंद्रगुप्त

द्वितीय विक्रमादित्य ने भारतवर्ष में अंतिम बार गणराष्ट्रों का संहार किया। तब से गणराष्ट्र भारतीय प्रजा के मानसिक क्षितिज से ओझल होने लगा और आठवीं-नवीं शताब्दि ई० प० तक, जब कि सारे देश में निरंकुश एकतंत्र की स्थापना हो चुकी थी, गणराष्ट्र की कल्पना भी विलीन हो गई। अतः मालवगण का स्थान उसके प्रमुख व्यक्ति-विशेष विक्रमादित्य ने ले लिया और संवत् के साथ उनका नाम जुड़ गया। साथ ही साथ मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य राजा विक्रमादित्य हो गए। राजनैतिक कल्पना की दुर्बलता का यह एकाकी उदाहरण नहीं है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजों से अनभिज्ञ भारतीय प्रजा में आज कौन जानता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्ध के पिता गणमुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य तक में वे राजा करके ही माने जाते हैं। यह भी हो सकता है कि राजशब्दोपजीवी गणमुख्यों की 'राजा' उपाधि राजनैतिक भ्रम के युग में विक्रमादित्य को राजा बनाने में सहायक हुई हो।

विक्रमादित्य के गुप्त सम्राट् होने के विरुद्ध जो कठोर आपत्तियाँ हैं उनका भी उल्लेख करना आवश्यक है—

(१) गुप्त सम्राटों का अपना वंशगत संवत् है। उनके किसी भी उत्कीर्ण लेख में मालव अथवा विक्रम संवत् का उल्लेख नहीं है। जब उन्होंने ही विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं किया तो पीछे से, उनके गौरवास्त के बाद, जनता ने उनका संबंध विक्रम संवत् से जोड़ दिया, यह बात समझ में नहीं आती।

(२) गुप्त सम्राट् पाटलिपुत्रनाथ थे, किंतु अनुश्रुतियों के विक्रमादित्य उज्जयिनीनाथ थे, यद्यपि उज्जयिनी गुप्तों की प्रांतीय राजधानी थी, किंतु वे प्रधानतः पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधाधिप थे। मुगलसम्राट् दिल्ली के अतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगर में भी रहते थे। फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त सोमदेव भट्ट ने अपने कथा-सरित्सागर में स्पष्टतः दो विक्रमादित्यों का उल्लेख किया है—एक उज्जयिनी के विक्रम तथा दूसरे पाटलिपुत्र के। उनके मन में इस संबंध में कोई भी भ्रम नहीं था।

(३) उज्जयिनी के विक्रम का नाम विक्रमादित्य था, उपाधि नहीं। कथासरित्सागर में लिखा है कि उनके पिता ने जन्मदिन को ही उनका नाम शिवजी के आदेशानुसार विक्रमादित्य रखा; अभिषेक के समय यह नाम अथवा विरुद के रूप में पीछे नहीं रखा गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चंद्रगुप्त तथा स्कंदगुप्त के विरुद क्रमशः विक्रमादित्य और क्रमादित्य (कहीं कहीं विक्रमादित्य भी) थे। समुद्रगुप्त ने तो यह उपाधि कभी धारण ही नहीं की। कुमारगुप्त की उपाधि महेंद्रादित्य थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होने के लिये यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोकप्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो जिसके अनुकरण पर पीछे के महत्त्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में सीजर उपाधिधारी राजाओं के पहले सीजर नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी गुप्त नरेशों के पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ होगा। और यह महापराक्रमी मालवगणमुख्य विक्रमादित्य साहसांक ही था।

साहसांक विक्रम और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की एकता

[लेखक—श्री भगवद्दत्त, बी० ए०]

१—दशम शताब्दि विक्रम अथवा उससे पहले के किसी कोशकार का एक प्रमाण है। वह कोशकार अमर-टीकाकार क्षीरस्वामी द्वारा उद्धृत किया गया है। क्षीर को संवत् ११५० के समीप का आचार्य हेमचंद्र अपनी अभिधान-चिंतामणि में बहुधा उद्धृत करता है। अतः क्षीर संवत् ११५० के पश्चात् का नहीं है। क्षीर-उद्धृत कोशकार लिखता है—

विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः ।२।८।२ ॥

अर्थात् विक्रमादित्य, साहसांक और शकांतक एक ही थे।

२—सुप्रसिद्ध महाराज भोजराज ने अपने सरस्वतीकंठाभरण नामक अलंकार-ग्रंथ में लिखा है—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः ।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः ॥ २।१५ ॥

इस पर टीकाकार रत्नेश्वर मिश्र लिखता है—

आढ्यराजः शालिवाहनः साहसाङ्को विक्रमादित्यः*

३—हाल अथवा सातवाहन प्रणीत गाथा-सप्तशती-कोश का टीकाकार हारिताभ्र.पीतांबर-गाथा ४६६ की टीका में गाथांतर्गत विक्रमादित्यस्य पद का अर्थ साहसांकस्य करता है†। इस टीकाकार की दृष्टि में यह विक्रमादित्य साहसांक ही था।

४—विक्रमादित्य और आचार्य वररुचि समकालिक थे‡। वह आचार्य वररुचि—

---

* भैरव शर्मा द्वारा मुद्रित, काशी, वैशाख सुदि ८, भौमे १९४३ वत्सरे।

† पं० जगदीश शास्त्री, एम० ए० का संस्करण, लाहौर।

‡ इस वररुचि से बहुत पहले अष्टाध्यायी का वार्तिककार और सुप्रसिद्ध काव्यकार मुनि वररुचि हो चुका था।

(क) अपनी पत्रकौमुदी में लिखता है—

विक्रमादित्यभूपस्य कीर्तिसिद्धेर्निदेशतः।
श्रीमान् वररुचिर्धीमांस्तनोति पत्रकौमुदीम्॥

अर्थात् श्रीमान् वररुचि ने विक्रमादित्य भूप की आज्ञा से पत्र-कौमुदी रची।

(ख) अपने आर्या-छंदोबद्ध लिंगानुशासन संबंधी एक ग्रंथ के अंत में लिखता है—

इति श्रीमदखिल-वाग्विलासमंडित-सरस्वतीकंठाभरण-अनेक-विशरद-श्रीनरपति-सेवित-विक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृष्ट-चरणारविंद-आचार्य-वररुचि-विरचितो लिंगविशेषविधिः समाप्तः।

अर्थात् महाप्रतापी विक्रमादित्य के पुरोहित अथवा गुरु आचार्य वररुचि ने लिंगविशेषविधि ग्रंथ समाप्त किया।

(ग) अपने एक काव्यग्रंथ के अंत में लिखता है—

इति समस्तमहीमण्डलाधिपमहाराज-विक्रमादित्य-निदेशलब्ध-श्रीमन्महापण्डित-वररुचिविरचितं विद्यासुन्दरप्रसङ्गकाव्यं समाप्तम्।

इस ग्रंथ विद्यासुंदर के आरंभ में लिखा है—

'महाराज साहसांक की सभा में विद्वद्गोष्ठी हो रही थी। महाराज ने अपने पंडितों से कहा कि कवि चोर और विदुषी विद्या की कथा लिखनी चाहिए। इस पर वररुचि ने कथा लिखनी आरंभ की।'... 'विद्यासुंदर में कवि कालिदास और शंकर शिव का उल्लेख है।'*

अध्यापक शैलेंद्रनाथ मित्र-लिखित पूर्वोद्धृत विवरण से यह बात सर्वथा स्पष्ट होती है कि वररुचि-वर्णित विक्रमादित्य का एक नाम साहसांक भी था।

यह समकालिक साक्ष्य बड़े महत्त्व का है। इसका बल न्यून नहीं किया जा सकता।

---

* द्वितीय अखिलभारतवर्षीय प्राच्यसभा का विवरण। लेखक—अध्यापक शैलेंद्रनाथ मित्र, पृ० २१६-२१८।

विद्यासुंदर काव्य के कुछ मूल श्लोक भी देखने योग्य हैं—

साहसाङ्कस्य भूपस्य सभायां काव्यकोविदैः।
आलापः........................मनोहर्षविवर्धनः ॥ ७ ॥
वररुचिनामा स कविः श्रुत्वा वाक्यं नृपेन्द्रस्य।
विद्यासुन्दरचरितं श्लोकसमूहैस्तदारेभे * ॥ ६ ॥

इन श्लोकों से ज्ञात होता है कि वररुचि ने महाराज साहसांक की आज्ञा से विद्यासुंदर काव्य की रचना की। यही साहसांक विद्यासुंदर की प्रशस्ति में लिखा गया विक्रमादित्य है।

५—संवत् १३६१ में लिखी गई प्रबंध-चिंतामणि के प्रथम प्रबंध के आरंभ में ही मेरुतुंगाचार्य ने लिखा है—

अन्त्योऽप्याद्यः समजनि गुणैरेक एवावनीशः
शौर्योदार्यप्रभृतिभिरिहोर्वीतले विक्रमार्कः।

तथा इसी प्रबंध के अंत में लिखा है—

इत्थं तेन पराक्रमाक्रान्तदिग्वलयेन षण्णवति प्रतिनृपमण्डलानि स्वभोग्यमानिन्ये।

वन्यो हस्ती स्फटिकघटिते भित्तिभागे स्वबिम्बं
दृष्ट्वा दूरात् प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु।
हत्वा कोपाद् गलितरदनस्तं पुनर्वीक्ष्यमाणो
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया साहसाङ्क॥ ३ ॥

कालिदासाद्यैर्महाकविभिरित्थं संस्तूयमानश्चिरं प्राज्यं साम्राज्यं बुभुजे।

६—वन्यो हस्ती से आरंभ होनेवाला यही श्लोक श्रीधरदासकृत सदुक्तिकर्णामृत में भी पाया जाता है। उसका पाठ निम्नलिखित है—

वन्यो हस्ती स्फटिकघटिते भित्तिभागे स्वबिम्बं
दृष्ट्वा रुष्टः प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु।

---

* लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास के महोपाध्याय श्री चरणदास चट्टोपाध्याय की कृपा से हमें ये श्लोक देवनागरी लिपि में मिले हैं।

दन्ताघाताकुलितदशनस्तत्पुनर्वीक्षमाणो
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया साहसाङ्क ॥

वेतालस्य ।*

सदुक्तिकर्णामृत ग्रंथ शक ११२७ अथवा संवत् १२६२ का लिखा हुआ है। यह ग्रंथ प्रबंधचिंतामणि से ९९ वर्ष पहले लिखा गया था। इस ग्रंथ में यह श्लोक वेताल-रचित कहा गया है। प्रबंधचिंतामणि में यही श्लोक कालिदास आदि के नाम से उद्धृत है। परंपरा के अनुसार वेताल कवि विक्रम का राजकवि था। इस प्रकार वेताल, कालिदास और साहसांक अथवा विक्रम समकालिक ही थे।

७—यही श्लोक संवत् १४२० के समीप लिखी गई शार्ङ्गधरपद्धति में पाया जाता है। वहाँ इसका पाठ अधिक अशुद्ध है। देखिए विशिष्ट राज-प्रकरण ७३—

हस्ती वन्यः स्फटिकघटिते भित्तिभागे स्वबिम्बं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु।
दन्ताघातादृगलितदशनस्तं पुनर्वीक्ष्य सद्यो
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया विक्रमार्क ॥ ४ ॥

कयोरप्येतौ।

शार्ङ्गधरपद्धति के मुद्रित संस्करण में इस श्लोक के कर्ता का नाम नहीं लिखा है। परंतु शार्ङ्गधर के पाठ से एक बात स्पष्ट हो जाती है। मेरुतुंग और श्रीधरदास के पाठों में जो व्यक्ति साहसांक पद से संबोधित किया गया है, वही व्यक्ति शार्ङ्गधर के पाठ में विक्रमार्क नाम से पुकारा गया है। मेरुतुंग के इस प्रबंध के आरंभ में भी उसे विक्रमार्क कहा है। वस्तुतः साहसांक और विक्रमार्क नाम पर्याय ही थे।

८—विक्रमार्क और विक्रमादित्य नाम में भी कोई भेद नहीं था। अर्क और आदित्य पद भी पर्यायवाची ही हैं। ग्वालियर के एक शिलालेख में लिखा है—

* लाहौर संस्करण, पृ० २१९।

श्रीविक्रमार्कनृपकालातीत संवत्सराणाम्मेकषष्ठ्यधिकायमेकादश-शत्यां माघशुक्लः ...।

अर्थात् विक्रमार्क या विक्रमादित्य के ११६१ वर्ष में...। यहाँ विक्रमार्क पद से विक्रमादित्य के ही संवत् का नामोल्लेख किया गया है।

विक्रम संवत् ही साहसांक संवत् कहा जाता था

६—विक्रमादित्य का संवत् साहसांक संवत् भी कहा जाता था। इस कथन की पुष्टि में निम्नलिखित तीन प्रमाण देखने योग्य हैं—

(क) व्योमार्णवार्कसङ्ख्याते साहसाङ्कस्य वत्सरे।

महोबा दुर्ग का शिलालेख।

संयुक्त प्रांत के हमीरपुर जिले में महोबा है। यह शिलालेख कनिंघम द्वारा आर्कियालाजिकल सर्वे आव इंडिया रिपोर्ट भाग २१, पृ० ७२ पर छपा है। पत्र-संख्या २२ पर इसकी प्रतिलिपि है। इंडियन एंटीक्वेरी भाग १६, पृ० १७६ पर भी इस लेख का विवरण है। इसमें साहसांक 'संवत् १२४० आषाढ़ वदी ६, सोमे' भी लिखा है।

यह संवत् निश्चय ही विक्रम संवत् है।

(ख) नवभिरथ मुनीन्द्रैर्वत्सराणामधीशैः

परिकलयति सङ्ख्यां वत्सरे साहसाङ्के।

महाराज प्रताप के काल का रोहतासगढ़ शैल का लेख।

रोहतासगढ़ शैल बिहार-उड़ीसा प्रांत के शाहाबाद जिले में है। यह शिलालेख एपिग्राफिया इंडिका भाग ४, पृ० ३११ पर छपा है। इसमें संवत् १२७९ का अभिप्राय है।

यह साहसांक संवत् भी निश्चय ही विक्रम संवत् है।

(ग) चतुर्भूतारिशीतांशु(१६५२)भिरभिगणिते साहसाङ्कस्य वर्षे

वर्षे जन्माद्रीन्द्रक्षितिमुकुटमणेरप्यनन्तागमा(४०)श्याम्।

पञ्चम्यां शुक्लपक्षे नभसि गुरुदिने रामदासेन राज्ञा

विश्वेनापूरितोऽयं तिथितुलितशिखो रामसेतुप्रदीपः॥

यह लेख रामदासकृत सेतुबंधटीका के अंत में मिलता है* । रामदास जयपुर राज्यांतर्गत वोली नगराधीश था। वह जलालुद्दीन अकबर महाराज के काल में हुआ। उसने विक्रम संवत् के लिये ही साहसांक संवत् का प्रयोग किया है। यही बात पूर्वोद्धृत क, ख, प्रमाणों से भी स्पष्ट हो जाती है। कनिंघम का भी यही मत था कि "क" और "ख" में वर्णित शिलालेखों में साहसांक वत्सर से विक्रम संवत् का ही ग्रहण होता है।

अतएव हारितांबर पीतांबर, रत्नेश्वर मिश्र, शाङ्र्गधर, मेरुतुंग, वररुचि और रामदास के लेखों से तथा शिलालेखों के प्रमाणों से यह बात निर्विवाद ठहरती है कि साहसांक, विक्रमादित्य और विक्रमार्क एक ही व्यक्ति के नाम थे।

संस्कृत वाङ्मय में विक्रम-साहसांक के उत्तर-कालीन अन्य साहसांक

१०—संस्कृत साहित्य के पाठ से पता लगता है कि विक्रम-साहसांक के उत्तरवर्ती कई अन्य राजाओं ने भी साहसांक की उपाधि धारण की थी।

(क) भोजराज के पिता महाराज मुंज (संवत् १०३१-१०५१) के नाम थे—वाक्पतिराज प्रथम, साहसांक, सिंधुराज, उत्पलराज इत्यादि† ।

(ख) चालुक्य विक्रमादित्य भी साहसांक कहाया। उसका कवि बिल्हण लिखता है—

श्रीविक्रमादित्यमथावलोक्य स चिन्तयामास नृपः कदाचित्।
अलङ्करोत्यद्भुतसाहसाङ्कः सिंहासनं चेद्यमेकवीरः॥

विक्रमांकचरित ३।२६,२७

इन पंक्तियों में चालुक्य विक्रम के पिता के विचार उल्लिखित हैं। वह अपने पुत्र को विक्रमादित्य और साहसांक नामों से स्मरण करता है। बिल्हण ने फिर लिखा है—

त्वद्भिया गिरिगुहाश्रये स्थिताः साहसांक गलितत्रपा नृपाः।

विक्रमांकचरित ५।४०॥

---

* निर्णयसागर, मुंबई का संस्करण, १९३५ ईसवी वर्ष, पृ० ५८४।

† पद्मगुप्त का साहसांकचरित।

यहाँ कवि ने साहसांक पद से चालुक्य विक्रम का संबोधन किया है।

मुंज तो स्पष्ट ही नवसाहसांक भी कहा गया है। अत: स्पष्ट है कि उससे पहले एक मूल साहसांक हो चुका था। चालुक्य विक्रमादित्य को उसके कवि बिल्हण ने विक्रमादित्य नाम के कारण ही साहसांक कहा।

परलोकगत श्री राखालदास बंद्योपाध्याय की भूल

११—एपिग्राफिया इंडिका भाग १४ के संख्या १० के लेख की विवेचना में श्री राखालदास से एक भूल हुई है। वे समझते हैं कि सेन-वंश के राजा विजय सेन ने एक साहसांक को पराजित किया—

'......इन् वर्स ७, व्हेयर इट इज स्टेटेड दैट विजयसेन डिफीटेड ए किंग नेम्ड साहसांक'।

इस सातवें श्लोक का पाठ निम्नलिखित है—

तस्मादभूद् अखिलपार्थिव-चक्रवर्ती
निर्व्याज-विक्रम-तिरस्कृत-साहसाङ्कः।
दिक्पालचक्र-पुटभेदन-गीतकीर्तिः
पृथ्वीपतिर्विजयसेन पदप्रकाशः॥ ७ ॥*

इसका सीधा अर्थ यही है—जिस विजयसेन ने अपने निर्व्याज-विक्रम से साहसांक को भी तिरस्कृत किया, अथवा जो साहसांक से भी बढ़ गया। अर्थ तो राखालदास जी ने भी यही किया है—'हू हैड आउटशोन साहसांक,' परंतु भाव अशुद्ध निकाला है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि उक्त शिलालेख के लिखनेवाले के मत में विजयसेन साहसांक से भी बड़ा राजा था। यह साहसांक पुरातन साहसांक ही था। विजयसेन के काल का कोई साहसांक नहीं था।

साहसांक नाम का एक ही व्यक्ति था

पूर्वोक्त जितने भी प्रमाणों में साहसांक शब्द आया है, उनके देखने से यह निश्चय हो जाता है कि भारतीय इतिहास में साहसांक नाम का एक ही

---

* एपिग्राफिया इंडिका, भाग १४, पृ० १५९, १६०।

व्यक्ति था। सब प्रमाणों में साहसांक पद एकवचन में आया है। उसके उत्तरवर्ती राजा या तो नव साहसांक आदि हुए या उन्होंने अपनी तुलना साहसांक से की।

संवत्-प्रवर्तक विक्रम-साहसांक ही विक्रम भी था

१२—एक शिलालेख में निम्नलिखित संवत् पढ़ा गया है—

विक्रमांक-नरनाथ-वत्सर।*

इस शिलालेख का संवत् भी विक्रम-संवत् ही माना जाता है।

१३—संस्कृत वाङ्मय में एक कालिदास और एक विक्रम की समकालिकता अत्यंत प्रसिद्ध रही है। १५वीं शती ईसा के पूर्वार्द्ध में संकलित सुभाषितावलि ग्रंथ में किसी कवि का एक श्लोकांश है—

व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमाङ्को नृपः।

इस पंक्ति से ज्ञात होता है कि विक्रम का विक्रमांक नाम बहुत विख्यात हो चुका था।

१४—संख्या १३ तक के लेख से यह स्पष्ट विदित होता है कि विक्रमादित्य, विक्रमार्क, साहसांक और विक्रमांक नाम एक ही व्यक्ति के थे। आश्चर्य है कि महाराज चंद्रगुप्त गुप्त की अनेक उपलब्ध मुद्राओं पर श्रीचन्द्रगुप्तविक्रमादित्यः, श्रीविक्रमादित्यः, विक्रमादित्यः और श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमांक लिखा मिलता है। चंद्रगुप्त-विक्रम के लिये विक्रम पद उपाधिमात्र नहीं रहा था। वह तो उसका एक प्रिय नाम हो चुका था। इसी लिये उसकी मुद्राओं पर केवल विक्रमादित्यः भी लिखा मिला है। उसके उत्तरवर्ती कुछ एक राजाओं ने विक्रम की उपाधि मात्र ही धारण की।

संवत्-प्रवर्तक साहसांक-विक्रम गुप्त-वंश का चंद्रगुप्त-विक्रम ही था

१५—राष्ट्रकूट गोविंद चतुर्थ के शक ७९३ (=संवत् ९२८) के एक ताम्रपत्र में लिखा है—

---

* प्रोसीडिंग्स् ऑव् दि ए० एस्० बी०, १८८०, पृ० ७७, तथा ई० आई०, भाग १०, संख्या ४०१।

सामर्थ्ये सति निन्दिता प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता
कन्धुस्त्रीगमनादिभिः कुचरितैरावर्जितं नायशः।
शौचाशौचपराङ्मुखं न च भिया पैशाच्यमङ्गीकृतं
त्यागेनासमसाहसैश्च भुवने यः साहसाङ्कोऽभवत् ॥*

अर्थात् राष्ट्रकूट गोविंद चतुर्थ ने साहसांक के दुर्गुण तो नहीं अपनाए, परंतु त्याग और असम साहस से वह संसार में साहसांक प्रसिद्ध हो गया।

इस श्लोक में यदि मूल साहसांक के दोष न गिनाए गए होते, तो कोई कह सकता था कि गोविंद चतुर्थ ही साहसांक था, परंतु दैवयोग से वे दोष यहाँ स्फुट रूप में लिखे गए हैं। वे दोष हैं—ज्येष्ठ भ्राता के प्रति क्रूर कर्म। ज्येष्ठ भ्राता की स्त्री के साथ अपना विवाह कर लेना। भय से उन्मत्त बनना अथवा पैशाच्य अंगीकार करना। इन दोषों के साथ त्याग और असम साहस के दो गुण भी वर्णन किए गए हैं।

अगले लेख से यह स्पष्ट हो जायगा कि जिस साहसांक के गुण-दोष उपर्युक्त ताम्रपत्र पर अंकित किए गए थे, वह साहसांक गुप्त-कुल का सुप्रसिद्ध महाराज चंद्रगुप्त द्वितीय ही था।

१६—इन्हीं घटनाओं को पुष्ट करनेवाला शक ७९५ (=संवत् ९३०) का निम्नलिखित लेख है—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद् देवीं च दीनस्ततो
लक्षं कोटिमलेखयन् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः ।†

अर्थात् उस राजा ने भाई को मारकर राज्य हरा और उसकी देवी को भी ले लिया। लाख दान के स्थान पर उसने कोटि लिखा दिया। कलि में वह (विलक्षण) दाता गुप्तवंशीय हुआ।

१७—साहसांक चंद्रगुप्त-विक्रम संबंधी जो घटनाएँ पुरातन लेखों के आधार पर ऊपर लिखी गई हैं, उनका सविस्तर वर्णन कवि विशाखदेव-प्रणीत

---

* एपिग्राफिया इंडिका, भाग ७, खंभात के ताम्रपत्र, पृ० ३८।
† एपिग्राफिया इंडिका, भाग १८, संजान ताम्रपत्र, पृ० २४८।

देवी चंद्रगुप्त नाटक के उद्धरणों में भी मिलता है। उन उद्धरणों की ऐतिहासिक बातों का उल्लेख अन्यत्र होगा।

१८—देवी चंद्रगुप्त में वर्णित मुख्य घटनाएँ ऐतिहासिक थीं। इस बात का प्रमाण चरकसंहिता-व्याख्याकार चक्रपाणिदत्त भी देता है। चक्रपाणिदत्त का काल लगभग विक्रम की बारहवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध है। वह लिखता है—

उपेत्य धीयते इति उपधिश्छद्म इत्यर्थः। तमनु···उत्तरकालं हि ग्राम्यादिचिह्नेन फलेन ज्ञायते—यद्यमुन्मत्तश्छद्मप्रचारी चन्द्रगुप्त इति।

—विमानस्थान ४।८॥

चक्रपाणिदत्त किसी काल्पनिक घटना का वर्णन नहीं कर सकता था। चंद्रगुप्त का कृतक उन्माद एक ऐतिहासिक घटना थी और उसी का उल्लेख चक्र ने किया। बहुत संभव है कि चक्र ने यह बात अपने से पूर्व काल के टीकाकारों से ली हो।

१९—अध्यापक अल्टेकर ने मजमल-उत-तवारीख से एक उद्धरण दिया है*। उनके अनुसार यह ग्रंथ ११वीं शताब्दि विक्रम में रचा गया था। इस ग्रंथ का आधार एक अरबी ग्रंथ था, और उस अरबी ग्रंथ का आधार कोई भारतीय ग्रंथ था। मजमल-उत-तवारीख में चंद्रगुप्त-विक्रम के उन्मत्त बनने और अपने भाई को मारने आदि की सारी कथा का उल्लेख है।

२०—यह कथा देवीचंद्रगुप्त नाटक, चक्रपाणिदत्त की चरक टीका, मजमल-उत-तवारीख और राष्ट्रकूटों के संजान आदि के ताम्रपत्रों में पाई जाती है। विद्वान् पाठकों को ध्यान रहे कि भरत मुनि के अनुसार नाटक की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक होता है। विशाखदेव ने इस

---

* जर्नल ऑव् बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी। ए हिस्ट्री ऑव् दि गुप्ताज आर० एन० दांडेकर रचित, पृ० ७२, ७३ पर उद्धृत। यह फारसी ग्रंथ तेरहवीं शती का है, ग्यारहवीं का नहीं। मूल ग्रंथ के हस्तलेख ब्रिटिश अद्भुतालय और आक्सफोर्ड में हैं।

बात का अवश्य ध्यान रखा है और चक्रपाणि का प्रमाण यह निश्चित कराता है कि उन्मत्त चंद्रगुप्त की कथा ऐतिहासिक थी।

चंद्रगुप्त-साहसांक और भट्टार हरिचंद्र

२१—शक १०३३ (संवत् ११६८ का वैद्यराज तथा गद्य-पद्य कवि महेश्वर अपने विश्वप्रकाश कोश की भूमिका में लिखता है—

श्रीसाहसाङ्कनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरङ्गपदमद्वयमेव बिभ्रत्।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार ॥५॥
आसीदसीम-वसुधाधिप-वन्दनीये तस्यान्वये सकलवैद्यककावतंसः।
शक्रस्य दस्र इव गाधिपुराधिपस्य श्रीकृष्ण इत्यमलकीर्तिलतावितानः ॥६॥

अर्थात् चरक तंत्र पर व्याख्या लिखनेवाला हरिचंद्र वैद्य महाराज श्री साहसांक का वैद्य था। उसके असीम राजाओं से वंदनीय कुल में श्रीकृष्ण वैद्य हुआ। श्रीकृष्ण गाधिपुर अथवा कन्नौज के राजा का वैद्य था।

इससे आगे श्लोक १२ में महेश्वर अपने साहसांकचरित नामक एक महाप्रबंध रचने का उल्लेख करता है। श्लोक १६ में पुनः लिखा है—साहसांक एक कोशकार भी था।

२२—महेश्वर ने शब्दप्रभेद नाम का भी एक ग्रंथ लिखा था। उसमें भी वह साहसांकचरित का कथन करता है। शब्द-प्रभेद की एक हस्तलिखित प्रति अलवर के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है*।

२३—वैद्य हरिचंद्र या भट्टार हरिचंद्र की चरकटीका का कुछ भाग अब भी संप्राप्त है†। आयुर्वेदीय ग्रंथों की टीकाओं में तो भट्टार हरिचंद्र की चरक-व्याख्या के उद्धरण भरे पड़े हैं।

२४—वाग्भट-विरचित अष्टांग-संग्रह का व्याख्याता वाग्भट-शिष्य इंदु लिखता है—

---

* अलवर राजकीय हस्तलिखित पुस्तकों का सूचीपत्र, पृ० १०२, संक्षिप्त अवतरण।

† पं० मस्तराम का संस्करण, लाहौर, संवत् १९८९।

(क) या च खरणादसंहिता भट्टारहरिचन्द्रकृता श्रूयते * ।

(ख) भट्टारहरिचन्द्रेण खरणादे प्रकीर्तिता ४५† ।

इन लेखों से ज्ञात होता है कि साहसांक का समकालीन भट्टार हरिचंद्र खरणाद-संहिता का कर्ता था। क्या इस खरनाद शब्द का संबंध गर्दभिल्ल नाम से हो सकता है।

२५—वृंदमाधव नामक आयुर्वेदीय ग्रंथ की श्रीकंठदत्तविरचित कुसुमावली-टीका में हरिचंद्र के ग्रंथ का एक श्लोक उद्धृत है—

केचिदिह सैन्धवादीनां मानभेदार्थं नातिप्रसिद्धं हरिश्चन्द्रमतमुपदर्शयन्ति

हरीतकी हरिहिहरतुल्यचक्रुणा चतुर्गुणां चतुरहिविलासपिप्पली।
द्विचित्रकं वरद्वरैकसैन्धवं रसायनं कुरु नृप वह्निदीपनम् ‡ ॥ इति ॥

इस श्लोक में हरिचंद्र एक नृप को संबोधन करके कहता है। यह नृप या तो कोई गर्दभिल्ल होगा या साहसांक-विक्रम।

हरिचंद्र और साहसांक-विक्रम अथवा चंद्रगुप्त का संबंध अन्यत्र भी प्रसिद्ध है—

२६—संवत् ९५० के समीप का महाकवि राजशेखर अपनी काव्यमीमांसा में लिखता है—

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—
इह कालिदासमेण्ठावत्रामर-सूर-भारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥§

अर्थात् काव्यकार हरिचंद्र और चंद्रगुप्त उज्जयिनी में परीक्षित हुए। यह हरिचंद्र तो भट्टार हरिचंद्र ही है और चंद्रगुप्त निश्चय ही साहसांक विक्रमादित्य है।

---

* कल्पस्थान, आठवाँ अध्याय।

† वही आठवें अध्याय का अंत।

‡ षष्ठः, अजीर्णरोगाधिकारः, पृ० १०९।

§ दशम अध्याय।

२७—एक हरिचंद्र किसी प्रतापी राजा की कीर्ति गाता है—

वक्त्रे साक्षात्सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्ति राजन्
स्वच्छेऽतो मानसेऽस्मिन्नवतरति-कथं तोयलेशाभिलाषः ॥ ४ ॥

हरिचंद्रस्य*

यही श्लोक स्वल्प पाठांतरों के साथ प्रबंधचिंतामणि में दो स्थानों पर मिलता है। पहला स्थान है विक्रमार्कप्रबंध† और दूसरा स्थान है भोज-भीमप्रबंध‡। दूसरे प्रबंध में लिखा है कि यह श्लोक श्रीविक्रमार्क की धर्मवहिका पर लिखा था।

यह श्लोक साहसांक-चंद्रगुप्त की स्तुति में ही कहा गया था और इसका कहनेवाला हरिचंद्र चंद्रगुप्त का साथी भट्टार हरिचंद्र ही था।

सदुक्तिकर्णामृत का लेखक धन्यवाद का पात्र है कि जिसने इस श्लोक के कर्ता हरिचंद्र का नाम सुरक्षित कर दिया।

२८—सदुक्तिकर्णामृत में साहसांक के नाम से एक सूक्ति उद्धृत की गई है§।

२९—जल्हण की सूक्तिमुक्तावली|| में राजशेखर का निम्नलिखित वचन है—

शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसाङ्कः स भूपतिः।
सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम् ॥

अर्थात् शूर और शास्त्रज्ञ महाराज साहसांक ने गंधमादन ग्रंथ रचा।

---

* सदुक्तिकर्णामृत, प्रवाहः तृतीयः, ५४।४॥

† सिंघी ग्रंथमाला, संस्करण, पृ० ८ पर D कोश का अधिक पाठ, संख्या १५।

‡ वही, पृ० १७।

§ ५।१५।३॥ लाहौर संस्करण, पृ० ३८८।

|| ४।५७॥

आचार्य दंडी की अवंतिसुंदरीकथा में किसी मंथ गंध० का नामोल्लेख है*।

३०—अमरकोश पर लिखे गए टीकासर्वस्व में विक्रमादित्य-कोश का प्रमाण उद्धृत किया गया है†। पुरुषोत्तम अपनी हारावलि के अंत में विक्रमादित्य और उसके कोश संसारावर्त का नाम स्मरण करता है। महेश्वर से स्मरण किए गए साहसांक कोश का उल्लेख हम पहले कर आए हैं। यह संसारावर्त कोश विक्रमादित्य-साहसांक की कृति था।

अतः संख्या २६ में लिखी गई राजशेखर की बात कि चंद्रगुप्त (साहसांक) एक विद्वान् काव्यकार था, उपर्युक्त तीनों प्रमाणों से भी सिद्ध होती है।

३१—सेतुबंध काव्य पर किसी साहसांक की भी एक टीका थी‡। ऐतिहासिक अध्ययन के लिये उस टीका का अन्वेषण अत्यंत आवश्यक है।

शकांतक अथवा शकारि-विक्रम अथवा चंद्रगुप्त

भारतीय इतिहास में शकों का प्रथम नाशक श्रीहर्षविक्रम अथवा शूद्रक था।§ उसके पश्चात् शक फिर प्रबल हो गए थे। उनका नाश चंद्रगुप्त-विक्रम ने किया। इस संबंध का विस्तृत उल्लेख हम अपने भारतवर्ष के इतिहास में कर चुके हैं‖। वहाँ अनेक प्रमाणों से यह बता चुके हैं कि शकारि नाम चंद्रगुप्त का ही था। उससे आगे हमने कवि अमरु का निम्नलिखित श्लोकार्द्ध सदुक्तिकर्णामृत से उद्धृत किया है।

श्लोकोऽयं हरिषाभिधानकविना देवस्य तस्याग्रतो
यावद्यावदुदीरितः शकवधूवैधव्यदीक्षागुरोः।

---

* पृ० ७।

† २।५।४॥

‡ ओरियंटल कान्फरेंस वृत्त, लाहौर, भाग प्रथम, पृ० ६६४,६६५।

§ देखो शूद्रक पर हमारा लेख, 'श्री स्वाध्याय' त्रैमासिक पत्र, सोलन।

‖ पृ० ३३८-३४०। उस समय श्रीहर्ष विक्रम और साहसांक विक्रम का भेद हमें ज्ञात नहीं था। शूद्रक संबंधी लेख में हमने वह भेद स्पष्ट कर दिया है।

यह श्लोक महाराज भोज के शृंगारप्रकाश अध्याय २० में भी मिलता है। यहाँ 'शकवधूवैधव्यदीक्षागुरु' शकरिपु अथवा शकारि का ही विशेषण है, क्योंकि सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत अमरु के इससे पूर्व श्लोक में शकरिपु प्रयोग स्पष्ट ही मिलता है। इसलिये यह ज्ञात होता है कि शकवधू० प्रयोग चंद्रगुप्त के लिये एक उचित विशेषण है।

फ्लीट-मत माननेवालों से प्रश्न

इतने साहित्यिक और ताम्रपत्रादिकों के साक्ष्य के होने पर भी जो महानुभाव चंद्रगुप्त-विक्रम को प्रसिद्ध विक्रम संवत् से संबंध रखनेवाला सम्राट् नहीं मानते, उन्हें निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर खोजना चाहिए—

(१) यदि संवत्-प्रवर्तक साहसांक-विक्रम कोई अन्य व्यक्ति था और चंद्रगुप्त-विक्रम नहीं, तो उसकी एक भी मुद्रा आज तक क्यों नहीं मिली? निश्चय ही उस विक्रम के काल में मुद्राओं पर अक्षरांकित नाम मिलते थे। उतने प्रतापी राजा की मुद्रा अवश्य प्रचलित हुई होगी।

(२) पुराणों के श्रीपार्वतीय राजा कौन थे? हम अपने भारतवर्ष के इतिहास में लिख चुके हैं कि गुप्त ही श्रीपार्वतीय थे। इसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि गुप्तों की मुद्राओं पर लक्ष्मी अथवा श्री का चिह्न विद्यमान है।

इसी का एक और प्रमाण श्रीपर्वत के स्थलमाहात्म्य में है—"गुप्तराज चंद्रगुप्त की कन्या चंद्रावती श्रीशैल के देवता से प्रेम करने लग पड़ी।...अंततः राजकुमारी ने उससे विवाह किया*।"

महाशय वी० वी० कृष्णराव आदि का मत है कि इक्ष्वाकुराजा ही श्रीपार्वतीय थे†। उन्हें विचार कर देखना चाहिए कि क्या पुराणों में इतने सुदूर दक्षिण के किसी और राजवंश का उल्लेख भी है या नहीं।

---

* श्रीकृष्ण शास्त्री का लेख, एनुअल रिपोर्ट ऑव् दि आर्कियॉलॉजिकल डिपार्टमेंट, सदर्न सर्किल, मद्रास, १९१७-१८ में उद्धृत।

† इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, कलकत्ता, पृ० ८०।

(३) साहसांक कितने थे? यदि साहसांक एक ही था, तो वह चंद्रगुप्त-विक्रम था। यदि दो थे, तो दूसरा कौन था? दो साहसांक मानने-वालों को स्मरण रखना चाहिए कि पुरातन लेखों में साहसांक एक ही है।

मुंमुणीराज का शक संवत् ६७१ का एक ताम्रपत्र है। उसमें इस वंश के मूल पुरुष कपर्दी का वर्णन है। कपर्दी का पुत्र पुलशक्ति शक ७६५ के अमोघवर्ष का सामंत था। अतः कपर्दी शक ७५० के समीप हुआ होगा। प्रस्तुत ताम्रपत्र में कपर्दी की तुलना साहसांक से की गई है—

तस्यान्वये निखिलभूपतिमौलिभूतरत्नद्युतिच्छुरितनिर्म्मलपादपीठः।
श्रीसाहसाङ्क इव साहसिकः कपर्दी सीलारवंशतिलको नृपतिर्बभूव *॥

इस ताम्रपत्र के पाठ में और दूसरे लेखों में साहसांक पद एकवचन में ही मिलता है। इससे निश्चय होता है कि साहसांक नाम का मूल में एक ही राजा था। उसके कई सौ वर्ष पश्चात् तक कोई अन्य राजा अपना नाम भी वैसा नहीं रख सका।

(४) साहसांक-विक्रम के साथी आचार्य वररुचि का काल कातंत्र व्याकरण से पहले का है। कातंत्र में इस वररुचि के सूत्रों का प्रयोग किया गया है। कातंत्र लगभग दूसरी शती विक्रम का ग्रंथ है। अतः दूसरी शती विक्रम से पहले का साहसांक तो चंद्रगुप्त ही था।

विद्वानों को आग्रह-रहित होकर इन बातों पर विचार करना चाहिए।

---

* ई० आई०, भाग २५, पृ० ५८, पंक्ति ४।

विक्रम संवत् और विक्रमादित्य

[लेखक—श्री वासुदेवशरण]

विक्रम संवत् के विषय में कुछ बातें पुरातत्त्व के निश्चित आधार से ज्ञात होती हैं, और कुछ के लिये केवल साहित्यिक अनुश्रुति प्रमाण है। शिलालेखों से प्राप्त होनेवाली सामग्री का सुंदर उल्लेख डा० अल्टेकर ने इसी अंक में प्रकाशित अन्यत्र अपने लेख में किया है। हमारे अब तक के ज्ञान की स्थापनाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—विक्रम संवत् का प्रारंभ ५७ ई० पूर्व में हुआ।

२—नवीं शताब्दि के आसपास इसका नाम विक्रम संवत् पड़ा। उससे पहले इसकी संज्ञा मालव संवत् थी। सं० ८९८ के चंड महासेन के धौलपुर शिलालेख में अब तक विक्रम संवत् का सब से पहला उल्लेख प्राप्त हुआ है; किंतु इसके ३८ वर्ष बाद के ग्यारसपुर (ग्वालियर) के लेख में इसे 'मालवेशों का संवत्' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि नवीं और दसवीं शताब्दियों के लगभग लोक में यह विश्वास था कि यह विक्रम संवत् मालवेशों का स्थापित किया हुआ था। सं० ११३१ के चालुक्य कर्कराज के नवसारी ताम्रपट्ट ने इस संवत् को निश्चित रूप से विक्रमादित्य के द्वारा आरंभ किया हुआ संवत्सर कहा है (श्रीविक्रमादित्योत्पादितसंवत्सर)। अतएव कम से कम एक सहस्र वर्ष पूर्व हमारी जनता का यह दृढ़ विश्वास था कि विक्रमादित्य नाम के राजा के द्वारा इस संवत्सर की स्थापना हुई।

३—मालव संवत् नाम पड़ने से पहले विक्रम संवत् का नाम कृत संवत् था। मंदसोर से प्राप्त नरवर्मा के सं० ४६१ के लेख में ऐतिहासिक स्थिति का ठीक ठीक वर्णन किया गया है और सूत्र रूप में इस संवत् के प्राचीन नाम और उसके क्षेत्र का निर्देश कर दिया गया है—

श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये॥

यह राजा नरवर्मा सं० ४६१ (४०४ ई०) में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे और संभवतः उनकी ओर से मालव के अधिपति शासक थे। गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालव को विजित किया था और वहाँ पर जो चाँदी के सिक्के जारी किए उनपर इस प्रकार अपना विरुद लिखा है—

परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तविक्रमादित्यस्य।

ई० सन् ४०० के लगभग उत्तर भारत और मालवा में चंद्रगुप्त का राज्य था और 'विक्रमादित्य', 'विक्रमांक' या 'विक्रम' विरुद घर घर में प्रचलित था। रीवाँ राज्य के सुपिया नामक गाँव से अभी हाल में मिले एक गुप्त-लेख में वंशावली देते हुए श्री समुद्रगुप्त के पुत्र को विक्रमादित्य और विक्रमादित्य के पुत्र को महेंद्रादित्य कहा गया है। चंद्रगुप्त और कुमारगुप्त नाम नहीं दिए गए। इससे ज्ञात होता है कि लोक की जिह्वा पर इन दोनों का विरुद ही अधिक प्रसिद्ध था। जब विक्रमादित्य नाम इस प्रकार सर्वत्र प्रसिद्ध था और मालवे से उसका विशेष संबंध था, तब भी ४०० ई० के लगभग यही प्रसिद्ध था कि इस संवत् का नाम कृत संवत् है, और मालवगण में इसकी प्रसिद्धि और इसकी स्थापना हुई। मालवा से बाहर और सब जगह गुप्त साम्राज्य में गुप्त संवत् का प्रयोग हो रहा था, कृत संवत् या विक्रम संवत् का नहीं।

अब तक कृत संवत् का पहली बार नाम और प्रयोग उदयपुर रियासत के नांदसा स्थान से प्राप्त संवत् २८२ (२२५ ई०) के यूप-लेख में पाया गया है। यह निरे संयोग की बात है कि जन्म के बाद करीब पौने तीन सौ वर्षों तक इस संवत् के प्रयोग का कोई उदाहरण हमारे लिये नहीं बचा। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रारंभ के तीन सौ वर्षों में इसका प्रयोग और प्रचार था ही नहीं। ऐतिहासिक पद्धति से सही अनुमान यही निकलता है कि उन तीन सौ वर्षों में भी इस संवत् का नाम कृत संवत् था और मालवों में इसका प्रचार था। उनमें यही अनुश्रुति विख्यात होगी कि उनके गण की स्थापना से कृत संवत् का प्रारंभ हुआ।

विक्रम की तीसरी शताब्दि से छठी शताब्दि तक कृत संवत् के जो लेख अब तक मिले हैं उनसे एक बात अच्छी तरह मालूम होती है कि इन तीन सौ

वर्षों तक कृत संवत् का प्रयोग अक्षांश और देशांश के एक परिमित क्षेत्र में ही हुआ। नांदसा (उदयपुर, सं० २८२), बर्नाला (जयपुर, सं० २८४), बड़वा (कोटा, सं० २९५), विजयगढ़ (भरतपुर, सं० ४२८), मंदसोर (मालवा, सं० ४६१, ४९३, ५२९, ५८९) और नगरी (चित्तौड़, सं० ४८१) इस क्षेत्र की सीमाओं को सूचित करते हैं। मोटे तौर पर दक्षिणी जयपुर से उज्जैन तक के प्रदेश में मालवगण का विस्तार था और वहीं पर कृत संवत् का प्रयोग हुआ। इस क्षेत्र के बाहर काल-गणना के दूसरे प्रकार प्रचलित थे। बाहर जब गुप्त संवत् जैसे प्रतापी संवत् का व्यापक प्रचार था उस समय भी मालवक्षेत्र में मालवगण के अपने कृत संवत् में ही कालगणना होती थी। यह इस बात का प्रमाण है कि मालवगण का इस संवत् के साथ कितना घनिष्ठ और अंतरंग संबंध था। शिलालेख भी इसका दृढ़ साक्ष्य देते हैं कि मालवगण की स्थापना से संवत् की काल-गणना का आरंभ हुआ—'मालव-गण-स्थिति-वशात् काल-ज्ञानाय लिखितेषु।' (यशोधर्मन् का मंदसोर लेख, सं० ५८९, ई० ५३२)।

मालवगण-स्थिति

मालवगण की स्थिति शब्द का ठीक अभिप्राय क्या है? हमारी सम्मति में स्थिति का सीधा अर्थ स्थापना है। मालवगण की स्थापना का यह अर्थ नहीं है कि उस गण की सत्ता पहले अविदित थी। मालव जाति का जो इतिहास अब तक ज्ञात है उसके अनुसार ई० पू० चौथी शताब्दि में मालव पंजाब में बसे थे। क्षुद्रकों के साथ मालवों का बड़ा मेल था और दोनों का संयुक्त सैनिक संगठन बड़ा प्रचंड था। पाणिनि के 'खंडकादिभ्यश्च' सूत्र के गणपाठ में क्षुद्रक और मालवों की संमिलित सेना को क्षौद्रकमालवी सेना कहा गया है (क्षुद्रकमालवात्सेना संज्ञायाम्)। मालवों ने सिकंदर से रणभूमि में लोहा लिया था। सिकंदर के साथी यूनानी इतिहासकारों ने मालव-युद्ध का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन किया है। वीर मालवों के एक भीम बाण ने सिकंदर के पार्श्व को भेदकर उसे लगभग मृत्यु के मुख तक पहुँचा दिया था। मालवों का यह कराल क्रोध उस यूनानी सेनापति के काल को

निकट खींच लाया और कुछ ही महीनों बाद स्वदेश पहुँचने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। छ: फुट के धनुष पर नौ फुट का बाण छोड़नेवाले ये मालव अत्यंत पराक्रमी और स्वातंत्र्यप्रेमी थे। विदेशी सत्ता के प्रति उनका प्रत्यक्ष क्रोध पंजाब में भली भाँति प्रकट हो चुका था। उसी की पुनरावृत्ति लगभग तीन सौ वर्ष बाद प्रथम शताब्दि ई० पू० में आकर-अवंति में हुई जब कि शकस्थान के छहरातवंशी शकों ने सुराष्ट्र पर आक्रमण किया। शिलालेख से यह निश्चय ज्ञात है कि प्रचंड मालवों से उनकी भिड़ंत हुई।

दूसरी शताब्दि ई० पू० के लगभग हम मालवों को जयपुर रियासत में बसा हुआ पाते हैं। कर्कोट नगर इन मालवों का प्रधान केंद्र था जहाँ उनके अनेक सिक्के मिले हैं। इन सिक्कों पर 'मालवानां जयः' विरुद अंकित है। ये मालव पंजाब से यहाँ आकर बसे थे। यूनानी आक्रमण के बाद कई गण-राज्य पंचनद से होकर राजपूताने की ओर चले आए। उनमें से चित्तौड़ के समीप नगरी स्थान में शिवि जनपद के लोग आकर बसे और जयपुर रियासत में मालवगण ने सन्निवेश किया। यह बात सिक्कों की सामग्री से प्रमाणित होती है।

लगभग सौ-डेढ़ सौ बरसों तक मालव सुख-शांति से निवास करते रहे होंगे, जब कि ई० पू० प्रथम शताब्दि के लगभग एक नया भय उपस्थित हुआ। शकस्थान के शकों की छहरात नामक शाखा ने पश्चिमी भारत की ओर बढ़कर सुराष्ट्र पर आक्रमण किया और कुछ काल के लिये वहाँ अपना दखल जमा लिया। इस वंश के दो राजाओं के सिक्के और लेख मिले हैं। इनमें पहला भूमक और दूसरा नहपान था। छहरात शकों के इस आक्रमण की एक धारा तक्षशिला के मार्ग से घुसती हुई मथुरा तक पहुँची। लेखों और सिक्कों से तक्षशिला और मथुरा के छहरात घरानों का भी परिचय मिलता है। मथुरा में छहरात महाक्षत्रप राजुबुल और शोडास ने दो पीढ़ी तक राज्य किया। तक्षशिला में इसी समय महाक्षत्रप लिअक और पतिक का राज्य था जो मथुरा के शकों से संबंधित भी थे। शकों का यह त्रिशूली आक्रमण कुछ टिकाऊ नहीं हुआ, किंतु करारा अवश्य था। नहपान के जो लेख नासिक की गुफा में मिले हैं उनसे विदित होता है कि उत्तमभद्रों और मालवों में कुछ

लाग-डाँट थी। इस आपसी बैर में उत्तमभद्रों ने विदेशी छहरातों से सहायता की पुकार की। शकों ने उत्तमभद्र का पक्ष लेकर मालवों को दबाया। इस घटना का उल्लेख छहरातवंशीय क्षत्रप नहपान के जामाता उषवदात के लेख में इस प्रकार आया है—

गतोस्मि वर्षा-रतुं मालयेहि······हि रुधं उतमभाद्रं मोचयितुं ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता उतमभद्रकानं च क्षत्रियानं सर्वे परिग्रहा कृता

अर्थात् 'इस वर्षा-ऋतु में मालवों से छेके हुए उत्तमभद्रों को छुड़ाने के लिये मैं गया। वे मालव मेरी हुंकार से ही भाग गए और उत्तमभद्र क्षत्रियों को मैंने सब प्रकार से सुरक्षित कर दिया। इतना करने के बाद पुष्कर में जाकर मैंने स्नान किया और ब्राह्मणों को अनेक दान दिए।' (ए० इं० ८।७८) अनुमान होता है कि उत्तमभद्र अजमेर-पुष्कर के इलाके में थे।

इस शिलालेख से यह सिद्ध होता है कि मालवों पर घोर संकट आया। इस संकट से अपनी रक्षा करने के लिये स्वतंत्रता के अभिमानी मालवगण ने अवश्य ही अपना संगठन दृढ़ किया होगा। विदेशी आक्रमणकारियों से सुराष्ट्र और स्वधर्म की रक्षा के लिये देश के अन्य क्षेत्रों में भी एक प्रबल भावना जाग्रत् हुई होगी। इस बात का निश्चित अनुमान करने का हमारे पास कारण यह है कि केवल दो पीढ़ी राज्य करके मथुरा और सुराष्ट्र के छहरात शकों का अंत हो गया, जिससे इतिहास में आगे उनका कोई चिह्न शेष नहीं रह गया।

इस कशमकश और विदेशियों के साथ भिड़ंत में एक महाप्रतापी सम्राट् का नाम सामने आता है। उन्होंने जो अतुल पराक्रम किया उसकी उपमा में पूर्वकाल और उत्तरकाल के बहुत ही कम विजेता रखे जा सकते हैं। ये सम्राट् दक्षिणापथेश्वर सातवाहनवंशीय राजराज गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि थे। हमारे सौभाग्य से इनकी माता महादेवी गौतमी बालश्री का एक लेख* नासिक की गुफा में सुरक्षित रह गया है, जिसमें महाराज शातकर्णि के पराक्रम और दिग्विजय का अभूतपूर्व चित्र प्राप्त होता है। 'महाराज गौतमीपुत्र हिमवान्, सुमेरु और मंदराचल पर्वतों के समान सारयुक्त थे। पराक्रम में वे

---

* यह शिलालेख इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित है।

राम, केशव, अर्जुन और भीमसेन के तुल्य थे। तेज में वे नाभाग, नहुष, जनमेजय, सगर, ययाति, राम और अंबरीष के सदृश थे। उन्होंने शक-यवन-पल्हवों का नाश किया और खखरात (क्षहरात) वंश को निःशेष करके सातवाहन कुल के यश की स्थापना की। सर्वमंडल में उनके चरणों की अभिवंदना की गई। चातुर्वर्ण्य के संकर को उन्होंने रोका। अनेक युद्धों में शत्रुसंघ को पराजित किया और अपराजित विजयपताका फहराई। अभय को जलांजलि देकर सबको निर्भय बनाया। भुजगेंद्र के समान उनकी विपुल दीर्घ भुजाएँ थीं और गजेंद्र के सुंदर विक्रम के समान उनका विक्रम था (वरवारण-विक्रम-चारुविक्रमस्य)। उनके शासन को सर्वराजमंडल ने स्वीकार किया। वे वेदादि शास्त्रों के आधार (आगम-निलय) थे। कुलपुरुषों की परंपरा से उनको 'राज' शब्द प्राप्त हुआ था। उनका प्रताप अपरिमित, अक्षय, अचिंत्य और अद्भुत था। उनकी माता महाराज पुलमावी की पितामही सत्यवचन, दान, क्षमा और अहिंसा में निरत, एवं तप, दम, नियम और उपवास में तत्पर, राजर्षिवधू शब्द को धारण करनेवाली आर्यका महादेवी गौतमी बालश्री थीं। महाराज शातकर्णि ने असिक, (कृष्णवेणा नदी के किनारे का राज्य), अश्मक (प्रतिष्ठान), मूलक (गोदावरी के तट पर), सुराष्ट्र, कुकुर, अपरांत, अनूप, विदर्भ, आकर और अवंति के देशों में राज्य किया; तथा विंध्य, ऋक्ष, पारियात्र, सह्य, कृष्णगिरि, मलय और महेंद्र पर्वतों का स्वामित्व प्राप्त किया।[1]

मलय, महेंद्र और विंध्य के विस्तृत त्रिकोण में राज्य का विस्तार करनेवाले एकछत्र शासक गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि ने शक, पल्हव और यवनों का विध्वंसन किया और अश्मक, आकर, अवंति को अपने विजित में मिलाया। इस घटना की ऐतिहासिक संगति पूर्वापर घटनाओं पर विचार करते हुए इस प्रकार समझ में आती है। उत्तमभद्रों ने मालवों के विरुद्ध अपने वैर का निर्यातन करने के लिये विदेशी क्षहरात शकों का आवाहन किया, परंतु मालवों ने शातकर्णि को अपनी सहायता के लिये बुलाया। इस अनुमान की ओर संकेत करनेवाली एक ऐतिहासिक कड़ी भी प्राप्त है। एक ओर मालव और क्षहरातवंशी नहपान के संबंध की बात पुरातत्त्व-प्रमाणित है, दूसरी

और गौतमीपुत्र शातकर्णि और शक-पल्हव युद्ध का भी शिलालेख में वर्णन है। यदि यह जाना जा सके कि जिन शकों से गौतमीपुत्र का संघर्ष हुआ था वे भी नहपानवंशी थे तो यह चित्र पूरा हो सकता है। यह जान लेने पर कि मालवों के जो वैरी थे, वे ही शातकर्णि से परास्त हुए, हम मालव और शातकर्णि के बीच की राजनीतिक संधि की निश्चित कल्पना कर सकते हैं। इस शृंखला की पूर्ति सिक्कों से होती है। भारतीय मुद्राशास्त्र में यह भली भाँति विदित है कि शातकर्णि ने नहपान की विजय के उपलक्ष्य में उसके सिक्कों पर फिर से अपने नाम की छाप लगवाई (स्मिथ, प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास, पृ० २२१)। जोगलतम्मी स्थान से प्राप्त १३००० नहपान के सिक्कों में से अनेकों पर शातकर्णि ने पुनः अपना नाम अंकित कराया है (वही, पृ० २३२)। मुद्राशास्त्र का यह प्रमाण बहुमूल्य है और इससे सिद्ध होता है कि शातकर्णि ने जिन शकों को परास्त किया था वह नहपान का वंश ही था। यह स्मरण रखना चाहिए कि शकों की दो धाराएँ भारतवर्ष में आईं। पहली बार के शक क्षहरातवंशी थे जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। दूसरी बार के शकों में मथुरा के कुषाणवंशी वेम कद्फ, कनिष्क आदि थे, तथा उज्जयिनी के चष्टन, रुद्रदामा आदि थे। इन्हें भारतीय इतिहास में शाहानुशाहि शक कहा गया है। देवपुत्र शाहानुशाहि शक और क्षहरात शकों में अवश्य ही समय का व्यवधान मानना पड़ेगा। हम इन दोनों को एक साथ नहीं रख सकते। स्मिथ ने मथुरा के रंजुवुल-सुदास को प्रथम शती ई० पू० में रखा है (वही, पृ० २४१) और क्षहरात शकों को प्रथम शती ई० के आरंभ में माना है। यह स्थापना किसी प्रकार समीचीन नहीं मानी जा सकती। भूमक की मुद्राओं और पल्हवों की मुद्राओं में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। प्रथम शती ईस्वी पूर्व में शकस्थान पल्हवों के अधिकार में था। वस्तुतः पल्हव और क्षहरात शक दोनों एक ही राजनीतिक चक्र के अंतर्गत थे। इस संयुक्त सैनिक शक्ति को पश्चिमी भारत से गौतमीपुत्र शातकर्णि ने निर्मूल किया। इसी लिये शिलालेख में गौतमीपुत्र को शक और पल्हव दोनों का विध्वंस करनेवाला कहा गया है। मालूम होता है कि बाह्लीक के यूनानी शासक भी इसी विदेशी चक्र के पोषक थे, अतएव शातकर्णि के शक्तिशाली उत्कर्ष के आगे वे भी

अवरुद्ध हुए। नासिक के लेख में अवंति और आकर को गौतमीपुत्र के राज्य के अंतर्गत लिखा गया है। मालवों के साथ उसकी राजनीतिक संधि को ध्यान में रखते हुए इसमें कुछ आश्चर्य नहीं मालूम होता।

शकों की पराजय के बाद मालवगण ने स्वतंत्रता का अनुभव किया। हमारी सम्मति में स्वतंत्रता की यह स्थापना ही मालवगण की 'स्थिति' थी जिसका मालव-कृत संवत् के लेखों में कई बार उल्लेख है। पहली बार मालवगण अवंति-आकर में प्रतिष्ठित हुआ और तब से वह भूप्रदेश मालव कहा जाने लगा। गौतमीपुत्र शातकर्णि के लेख में कहा गया है कि उसने अनेक विशाल आनंदोत्सवों का आयोजन किया (छण-घनोत्सव-समाजकारकस्य)। दिग्विजय के उपलक्ष्य में ऐसा करना स्वाभाविक था। मालवों ने भी इस विजयोल्लास के आनंद में भाग लिया होगा। शकों के हुंकार से मालवगण भयभीत होकर तितर बितर हो गया था—

'ते च मालया प्रनादेनैव अपयाता। (नासिक लेख)

वही मालव विदेशियों का पराजय और स्वराज्य की स्थापना के बाद स्वदेश में पुनः संघीभूत हुए एवं उनका गण सुप्रतिष्ठित हुआ। यही घटना 'मालवगणस्थिति' थी। उस स्थिति के वर्ष से ही कृतसंज्ञक कालगणना का आरंभ मालवों में होने लगा।

कृत का अर्थ

कृत शब्द के कई अर्थ सुझाए गए हैं—(१) किया गया; (२) ज्योतिष का एक शब्द जो चार से विभक्त हो जानेवाले वर्ष के लिये प्रयुक्त होता है। डा० अल्तेकर ने अपने लेख में कृत नाम के मालवगण-प्रधान या सेनापति की कल्पना की है, किंतु वे स्वयं मानते हैं, कि इसका कोई आधार नहीं है। हमारी सम्मति में कृत का अर्थ सतयुग या स्वर्णयुग लेना चाहिए। इस अर्थ का समर्थन प्राचीन वैदिक परंपरा से होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के चरैवेति गान में कृतादि परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए लिखा है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥

सोनेवाले का नाम कलि है, अँगड़ाई लेनेवाला द्वापर है, उठकर खड़ा होनेवाला त्रेता है और चलनेवाला कृतयुगी होता है। अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त में 'उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः' मंत्र में इन्हीं चार अवस्थाओं का निरूपण है जिसमें कृत के लिये प्रक्रम या पराक्रम की अवस्था कहा गया है। विशेष पराक्रम या विक्रम के द्वारा आदर्श सतयुग की स्थापना कृत है। मालवों ने सत्य ही शक-विजय के बाद अपने गण की स्थिति को कृतयुग की स्थापना समझा और इसी कारण संवत् की गणना का कृत नाम रखा गया। कृत संवत् का यही अर्थ घटनाओं से समंजस जान पड़ता है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिकवाले शिलालेख में कृत युग के अनुकूल आदर्शों की पुनः स्थापना का उल्लेख आया है। 'सब ओर प्रजाओं को अभय की जलांजलि देकर निर्भय बनाया गया। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था को न माननेवाले शक-पल्हव यवनों को हराकर चातुर्वर्ण्य को संकर-रहित बनाया गया। धर्म से कर ग्रहण करके प्रजाहित में उसका विनियोग किया गया। द्विजों का विवर्धन और वेदादि आगम-शास्त्रों की रक्षा की गई।' वासिष्ठीपुत्र ने इसी लेख में अपने पिता के आदर्शों का वर्णन करते हुए उन्हें 'धर्मसेतु' कहा है। हमारे साहित्य में कृतयुग की स्थापना के यही आदर्श माने जाते रहे हैं। इस तरह विक्रम संवत् की स्थापना के मूल में यह विचार मालूम होता है कि उसके प्रारंभ से लोक में कृतयुग की फिर स्थापना हुई।

श्री जायसवाल जी ने पूर्वापर का विचार करने के बाद श्री गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही विक्रमादित्य माना था। इस संबंध में जो ऐतिहासिक संगति है उसका ऊपर निर्देश कर दिया गया है। पुरातत्त्व की उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो ऐतिहासिक चित्र निर्मित हो सकता है वह यही है। विक्रमादित्य के संबंध में जैन अनुश्रुति विशेष रूप से उपलब्ध है। उसका वर्णन श्री राजबली पांडेय जी ने अपने लेख में किया है। इस अनुश्रुति के आधार पर शकों के पश्चिम भारत में आक्रमण और किसी प्रतापी नरेश द्वारा उनकी पराजय की जो सूचना मिलती है उसका भी उपर्युक्त ऐतिहासिक संगति से मेल बैठ जाता है। हाँ, जैन अनुश्रुति की यह विशेषता है कि उसमें इस सम्राट् की संज्ञा विक्रमादित्य कही गई है।

ये विक्रमादित्य मालव गण में थे या सातवाहन-वंश में, इसका निर्णय करने के पूर्व पुरातत्त्व की अन्य सामग्री के लिये रुक जाना पड़ता है। विक्रमादित्य और उनके नवरत्नों की जो कथाएँ हैं उनका जन्म भी जैन अनुश्रुति के बाहर अन्य क्षेत्रों में हुआ, अतएव नवरत्नों का संबंध संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य के साथ जोड़ना अनिवार्य नहीं है। हमारी सम्मति में कालिदास जिन विक्रमादित्य के समय में थे वे गुप्तवंशी सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ही हैं। विक्रम संवत् की तरह आरंभ की शताब्दियों में शक संवत्* या गुप्त संवत् के साथ भी उसके संस्थापक के नाम या संवत् के नाम का उल्लेख शिलालेखों में नहीं पाया गया। अतएव विक्रम संवत् के संबंध में ही यह त्रुटि विशेष रूप से नहीं है। जान पड़ता है कि सभी संवत्सरों की गणना शुरू में इसी तरह निर्विशेष रूप से होती थी।

---

* शक संवत् का स्पष्ट नाम सर्वप्रथम शक ३८० (= ई० ४५८) की एक घटना के संबंध में एक जैन ग्रंथ की पुष्पिका में आया है (दे० माइसोर पुरातत्त्व विभाग की रिपोर्ट, १९०८-९ पृ० ११; १९०९-१०, पैरा ११५)। [स्मिथ, प्राचीन इतिहास, पृष्ठ ४९९, पादटिप्पणी]

गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि की विजय-प्रशस्ति

[लेखक—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी]

यह ११ पंक्तियों का प्राकृत लेख बंबई हाते के नासिक नामक स्थान के पास तिरण्हु (त्रिरश्मि) पर्वत की तीसरी गुफा में खुदा हुआ मिला है। सातवाहन-वंश के प्रसिद्ध सम्राट् गौतमीपुत्र शातकर्णि की माता गौतमी बालश्री ने अपने पोते वासिष्ठीपुत्र पुळुमायि के १९वें राज्यवर्ष में इस पर्वत पर एक लेण या गुफा (लयन) बौद्ध भिक्षुओं को दान की थी। इस लेख में उसके उल्लेख के साथ साथ बालश्री ने अपने स्वर्गीय प्रतापी पुत्र के पराक्रम-पूर्ण गुणों का भी वर्णन किया है—

(१) सिद्धं रञो वासिठीपुतस सिरि पुळुमायिस सवछरे एकुनवीसे १९ गिम्हाण पखे बितीये २ दिवसे तेरसे १३; राजरञो गोतमीपुतस; हिमवत्-मेरु(२)मदर-पवतसमसारस; असिक-असक-मुलक - सुरठ - कुकुर - आपरंत-अनुप-विदभ-आकरावति-राजस; विझ-छवत-पारिचात-सह्य-कण्हगिरि-मच-सिरि-टन-मलय-महिद-(३)सेटगिरि- चकोर पवतपतिस; सव राजलोकमडलपति गहीतसासनस; दिवसकरकरविबोधितकमलविमल-सदिस-वदनस; तिसमुद-तोयपीत-वाहनस; पटिपुणचदमडलससिरीक (४) पियदसनस; वरवारण-विकमचारुविकमस; भुजगपतिभोगपीनवटविपुलदीघसुदरभुजस; अभयोदकदा-नकिलिननिभयकरस; अविपनमातु सुसूसा करस; सुविभतितिवग-देसकालस; (५) पोरजन निविसेससमसुखदुखस; खतियदपमानमदनस; सक-यवन-पल्हवनिसूदनस; धमोपजितकरविनियोगकरस; कितापराधेपि सतुजने अपाण-हिसारुचिस; दिजावरकुटुबविवधनस; (६) खखरातवसनिरवसेसकरस; सात-वाहनकुलयसपतिथापनकरस; सवमडलाभिवादितचरणस; विनिवतित चातुव-णसकरस; अनेकसमरावजितसतुसघस; अपराजित विजयपताकसतुजनदुपधस-नीयपुरवरस; (७) कुलपुरिसपरपरागतविपुलराजसदस; आगमाननिलयस; सपुरिसानं असयस; सिरीय अधिठानस; उपचारान पभवस; एककुसस; एक-

धनुधरस; एकसूरस; एक बम्हणस; (८) राम-केसवार्जुन-भीमसेन-तुलपरकमस; छणघनुसवसमाजकारकस; नाभाग-नहुस-जनमेजय-सकर-ययाति-राम-आंबरीस-समतेजस, अपरिमितम् अखयम अचितम् अभुत पवन-गरुड-सिध-यख-रखस; विजाधर भूतगधव-चारण (९)-चद-दिवाकर-नखत-गह विचिण समर सिरसि जितरिपु सघस; नागवरखधा गगनतलम् अभिविगाढस; कुलविपुल-सिरिकरस; सिरि सातकणिस (।) मातुय महादेवीय गोतमिय बलसिरीय; सचवचनदानखमाहिसानिरताय; तपदमनिय(१०)मोपवास तपराय; राजरिसि वधुसदम् अखिलम् अनुविधीयमानाय; कारित देयधम; (केलास) सिखरसदिसे तिरण्हुपवतसिखरे विमानवरनिविसेस महिढीक लेण (।) एत च लेण महादेवी महाराजमाता, महाराजपपितामही ददाति निकायस भदावनीयानं भिखुसघस (।) (११) एतस च लेणस चितण निमित, महादेवीय अयकाय सेवकामो पियकामो च, णत...(दखिना)पथेसरो पितुपतीयो धमसेतुस ददाति गाम तिरण्हुपवतस अपरदखिणपसे पिसाजि पदक (।) सवजातभोगनिरठि (।)

हिंदी अनुवाद

सिद्धि ! राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमायि के उन्नीसवें (१९वें) संवत्सर में, ग्रीष्म पक्ष दूसरे २, दिन तेरहवें १३ को; राजाओं के राजा गौतमीपुत्र जो हिमालय, सुमेरु, मंदार पर्वतों के सदृश सारवान् थे; जो असिक[1], अश्मक[2], मुलक[3], सुराष्ट्र[4], कुकुर[5], अपरांत[6], अनूप[7], विदर्भ[8], आकर[9] और अवंती[10] के राजा थे; जो विंध्य, ऋक्षवत्[11], पारियात्र[12], सह्य[13], कृष्णगिरि[14], मच[15],

---

१—असिक = ऋषिक या मुषिक (?)। २—गोदावरी के निचले काँठे का प्रांत। ३—पैठण या प्रतिष्ठान के आस-पास का प्रदेश। ४—आधुनिक काठियावाड़। ५—वर्तमान गुजरात का पूर्वी या दक्षिणी भाग। ६—उत्तरी कोंकण। ७—नर्मदा के उत्तरी काँठे का प्रदेश, राजधानी माहिष्मती (मांधाता)। ८—आधुनिक बरार के पश्चिमी भाग। ९—पूर्वी मालवा। १०—पश्चिमी मालवा। ११—आधुनिक सतपुरा पर्वत। १२—विंध्य का पश्चिमी भाग। १३—सह्याद्रि। १४—बंबई के थाना जिले में स्थित पहाड़ी। १५—इसकी पहचान नहीं हो सकी है

श्रीस्तन[१], मलय[२], महेंद्र[३], श्वेतगिरि[४], चकोर[५], पर्वतों के पति थे; जिनका शासन संपूर्ण नृपति-मंडल के द्वारा शिरोधार्य किया गया था; सूर्य की किरणों से प्रफुल्लित कमल के समान जिनका निर्मल मुखमंडल था; जिसके वाहनों ने तीन समुद्रों के जल का पान किया था; पूर्ण चंद्रमंडल के सदृश जिनका मुख श्रीसंपन्न तथा प्रियदर्शन था; श्रेष्ठ हाथी के विक्रम के तुल्य जिनका विक्रम था; नागराज (शेष) के फणों के समान जिनकी भुजाएँ शक्ति-संपन्न, विशाल, दीर्घ तथा दर्शनीय थीं; जिनके निर्भय हाथ निरंतर अभयोदक दान देने के कारण गीले हो गए थे; जो अपनी अविपन्न माता की शुश्रूषा में रत रहते थे; देश और काल के अनुसार ही जिन्होंने धर्म, अर्थ और काम को यथोचित रूप से विभक्त किया था; पौर जनों के सुख-दुःख में पूरी तरह से जो संमिलित रहते थे; जिन्होंने क्षत्रियों के दर्प और अभिमान को चूर कर दिया था; शक, यवन और पल्हवों का जिन्होंने संहार किया था; धर्म से उपार्जित करों का ही जो विनियोग करते थे; अपराध करनेवाले शत्रुओं को भी जो प्राणदंड देना अच्छा नहीं समझते थे; द्विजों और शूद्रों के कुटुंबों को जिन्होंने बढ़ाया था; जो खहरात वंश का मूलोच्छेद करनेवाले थे;* जिन्होंने सातवाहन वंश के यश का प्रतिष्ठापन किया था; सभी मंडलों के द्वारा जिनके चरण पूजित होते थे; जिन्होंने ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चारों वर्णों में वर्णसंकर वृत्ति का प्रतिरोध कर दिया था; अनेक समरों में जिन्होंने शत्रुओं के समूह को विजित किया था; जिनकी विजय-पताका अपराजित बनी रही, और जिनकी श्रेष्ठ राजधानी शत्रुओं के लिये दुर्धर्ष बनी रही; जो अपने वंश के पूर्वपुरुषों की परंपरा से प्राप्त विपुल राज शब्द से युक्त थे; आगमों के जो भांडार थे; सत्पुरुषों के लिये आश्रय थे; श्री के अधिष्ठान थे, सद्गुणों के स्रोत थे; जो

१—कृष्णा नदी के ऊपर कर्नूल जिले की पहाड़ी। २—पश्चिमी घाट की पर्वतशृंखला का दक्षिणी भाग। ३—महानदी और गोदावरी के बीच की शृंखला। ४—५—इनकी पहचान अभी तक अनिश्चित है।

* खहरात वंश का तत्कालीन प्रतापी शासक नहपान था, जिसको परास्त कर गौतमीपुत्र शातकर्णि ने उसके प्रचलित सिक्कों पर अपनी मुहरें लगवा दी थीं।

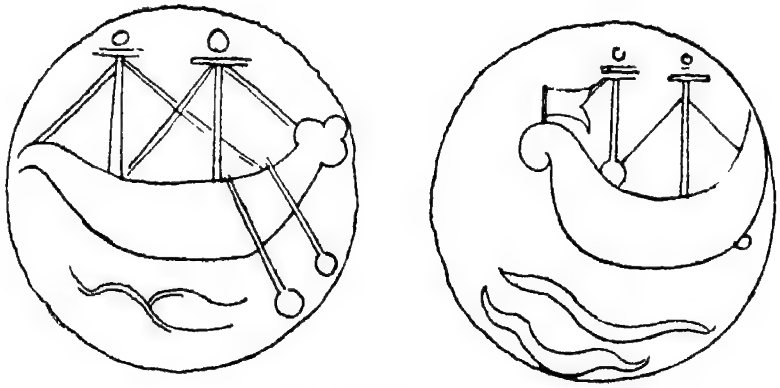

यज्ञश्री शातकर्णि की नौ-मुद्राएँ

दूसरों को स्ववश में करने में प्रवीण थे; धनुर्धारियों में अद्वितीय, और शूरों में अद्वितीय थे; जो एक अद्वितीय ब्राह्मण थे; पराक्रम में जो राम, केशव, अर्जुन और भीमसेन के तुल्य थे; त्योहारों, उत्सवों और समाजों में जो अनवरत दान करनेवाले थे; जो नाभाग, नहुष, जनमेजय, शंकर, ययाति, राम और अंबरीष के समान तेजस्वी थे; युद्धों में जिनकी स्फूर्ति और शौर्य पवन, गरुड़, सिद्ध, यक्ष-राक्षसों के समान अपरिमित, अक्षय, अज्ञेय तथा श्लाघ्य थे; जिसने विद्याधर, भूत, गंधर्व, चारण, चंद्र, सूर्य, नक्षत्र और ग्रहों के समकक्ष शत्रुओं के समूह को विजित किया; युद्ध-समय जो अपने श्रेष्ठ गज के कंधे से व्योमतल में प्रविष्ट होते-से जान पड़ते थे; जिसने इस प्रकार अपने वंश को विपुल श्री से संपन्न कर दिया—ऐसे श्री शातकर्णि की माता महादेवी गौतमी बालश्री—जो सत्य वचन, दान, क्षमा और अहिंसा में निरत है; जो तप, दम, नियम और उपवास में तत्पर है—जो एक राजर्षिवधू को शोभा देने योग्य संपूर्ण विधियों का पालन करती है; उसके द्वारा यह देय धर्म (दान) किया जाता है; [कैलाश के] समान शिखरवाले इस त्रिरश्मि पर्वत के शिखर पर उसके अनुरूप ही सुंदर लेण (लयन)। यह लेण महादेवी, महाराज-माता, महाराज-प्रपितामही भदावनीय भिक्षु-संघ को देती है। इस लेण के चित्रण के लिये, अपनी प्रपितामही महादेवी [बालश्री] के प्रति सेवा-भाव को सूचित करते हुए और उसे संतुष्ट करने के लिये, उसका पौत्र [पुलुमावि], जो दक्षिणापथ का स्वामी है, दान के पुण्य को अपने [स्वर्गीय] धर्मसेतु पिता को अर्पित करता हुआ इस देयधर्म (लेण) के लिये, पिशाचिपद्रक नामक ग्राम जो तिरण्हु (त्रिरश्मि) पर्वत से दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है, दान में देता है। इसका सभी प्रकार से उपभोग किया जा सकता है।

बोगाजकुई के कीलाक्षर लेखों में वैदिक देवता

[लेखक—श्री मोतीचंद, एम० ए०, पी-एच० डी० और श्री वासुदेवशरण एम० ए०, पी-एच० डी०]

बोगाजकुई एशिया माइनर की अंगोरा विलायत में एक छोटा सा गाँव है, जहाँ के प्राचीन खँडहर इस समय संसार में प्रसिद्ध हैं। इस स्थान का प्राचीन नाम खत्तुशश था। खत्ती उस देश का और वहाँ बसनेवाली जाति का नाम था जिसे अँगरेजी भाषा में इस समय हित्ताइत (Hittite) कहते हैं। बाइबिल में इसे ही हेथ (Heth) कहा गया है। खत्ती जाति की भाषा का नाम उनकी अपनी बोली में खत्तिली (Khattili) था। यह बोली असंस्कृत वर्ग की थी। इसके साथ ही भारत-यूरोपीय वर्ग की भी एक बोली यहाँ प्रचलित थी, जिसका प्राचीन नाम नाशिली था और जो राजकीय भाषा थी। नाशिली भाषा का आधुनिक नाम हित्ताइत रख लिया गया है। चेक विद्वान् होजनी ने इस भाषा के लेखों को पढ़ा है, और उनकी सम्मति में प्राचीन हित्ताइत या नाशिली भाषा ठीक भारत-यूरोपीय वर्ग की है।

प्राचीन खत्तिशश स्थान का महत्त्व भारतीयों के लिये न केवल भाषाओं की दृष्टि से है, वरन् खत्तिशश से प्राप्त कुछ कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए मिट्टी के फलकों के कारण भी है जो १९०७ में जर्मन पुरातत्त्ववेत्ता विंक्लर को प्राप्त हुए थे। ये अभिलेख खत्ती राजा शुप्पिलुलिउम तथा मितानी राजा मत्तिवज के संधिपत्र के रूप में हैं, जिनमें मितानी सम्राट् ने संधिपत्र की सत्यता की साक्षी के लिये आर्य देवताओं का उल्लेख किया है। संधिपत्र में देवों के नाम इस प्रकार हैं :—

इलानि मि-इत्-र अरिशाल्

इलानि व-रु-व-न अरिशएल् (पाठा० अ-रु-न-अरिशाल् , इलु इन-दर पाठा० इन-द-र)

इलानि न-सा-अत्-ति-अन्-न ।

वैदिक शब्दों में यह इस प्रकार हुआ—मित्र देवता, वरुण देवता, इंद्र देवता और नासत्य देवता।

'इलानि' शब्द देवतावाची 'इल' शब्द का बहुवचन है, जिससे म्लेच्छ (सेमेटिक) भाषा का इलाह या अल्लाह शब्द निकला है। मित्र और वरुण नामों के बाद 'अश्शिल' प्रत्यय संभवतः बहुवचन का द्योतक और नासत्य के बाद का अन्न प्रत्यय द्विवचन का वाचक है। मित्र और वरुण के पूर्व बहुवचन 'इलानि' का प्रयोग कुछ अस्पष्ट है। इन देवताओं के जो नाम इस लेख में आए हैं—जैसे मित्रश्शिल, अरुनश्शिल या उरुवनश्शिल, इंदर तथा नश्तिअन—वे यह बताते हैं कि मितानी राजवंश की यह शाखा अवश्य ही वैदिक आर्य शाखा के साथ निकट संबंध रखती थी। आर्य जाति के भौमिक विस्तार की उपमा यदि एक धनुष से दी जाय तो विक्रम से डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व उसका एक छोर भारतवर्ष में और दूसरा बोगाजकुई में टिका हुआ मिलता है।

इन मितानी राजाओं के नाम भी आर्य प्रभाव के सूचक हैं। मत्तिवज का पूर्वज दुशरत्त था। अमरना गाँव से मिले हुए पत्रों में उसने अपने पिता का नाम सुतर्न और पितामह का नाम अर्तत्तम लिखा है। अमरना फलकों में मितानी राजा अर्तसुवर और सुरीं के सुवरदत्त के नाम भी आए हैं। अर्तत्तम संभवतः वैदिक ऋततम का रूप है*। मितानी अर्त और ईरानी अश दोनों का संबंध वैदिक ऋत से है। 'ऋत' वेद में विश्वव्यापी नियमों का द्योतक था और 'मितानी' अर्थ में भी इन्हीं भावों का समावेश पाया जाता है। ऋत प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार वरुण से विशेष संबंधित था।

खत्तिशश् (बोगाजकुई) से प्राप्त प्राचीन ग्रंथभंडार में चार और फलक मिले हैं, जो खत्ती भाषा में लिखे हुए शालिहोत्र विषय के एक ग्रंथ के भाग हैं। इस ग्रंथ में अश्वशास्त्र और रथों की दौड़ (वैदिक 'आजि') आदि का वर्णन था और मूल-ग्रंथ में और भी बहुत से पन्ने थे। इसके रचयिता मितानी के आचार्य किक्कुलि थे। खत्ती भाषा में होते हुए भी इसमें

* देखिए ऍन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग ११, पृ० ६०४—लंदन की राजकीय एशिया-परिषद् की पत्रिका, १९०९, पृ० ७२३-२४, ११०८-१९।

कुछ ऐसे शब्द आए हैं, जो रथों की व्यूहरचना के पारिभाषिक शब्द हैं। उदाहरण के लिये—ऐकवर्तन्न (एक मोड़), तेरवर्तन्न (तीन मोड़), पंजवर्तन्न (पाँच बार का मोड़), शत्तवर्त्तन्न (सात मोड़ या घुमाव)। ये शब्द प्राचीन भारतीय एकावर्तन, त्र्यावर्तन, पंचावर्तन और सप्तावर्तन के ही रूपांतर हैं। उस काल में आधुनिक सीरिया का नाम खुर्री प्रदेश था और खुर्री-मितानी में सैनिकवर्ग के क्षत्रियों के लिये 'मर्यन्नु' शब्द प्रचलित था, जो कि वैदिक मर्य (=वीर) का पर्याय है।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि विक्रम से लगभग पंद्रह शताब्दी पहले सुदूर पश्चिमी एशिया में आर्यवंशीय जातियाँ, आर्यधर्म तथा आर्य-भाषाओं का निश्चित और व्यापक प्रभाव था। यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि खत्ती और मितानी के आर्य सम्राटों का मूल उद्गम कहाँ से था। परंतु कुछ विद्वानों का मत है कि भारतवर्षीय सप्तसिंधु के आर्यों की ही एक शाखा पश्चिम की ओर फैलती हुई खत्ती और मितानी की शासक बन गई थी। उन्हीं के प्रभाव से यह सांस्कृतिक संबंध उस समय वहाँ पर स्थापित हुआ। खत्ती, खुर्री और हित्ताइत भाषाओं के मूल साहित्य, धर्म और भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन और देवनागरी अक्षरों में उनका विधिवत् प्रकाशन भारतीय पुरातत्त्वशास्त्र की आगामी उन्नति और विकास के लिये परम आवश्यक है। हमारे देश के पुरातत्त्ववेत्ता विद्वान् तब तक संसार के पुरातत्त्ववेत्ताओं में सम्मानित अग्रपद नहीं प्राप्त कर सकते जब तक वे इस प्राचीन सामग्री का मौलिक अध्ययन न करने लगें। इसके लिये एक केंद्रीय अनुसंधान-मंदिर की आवश्यकता है, जहाँ पर उफ़ातु और तिग्रा* की अंतर्वेदी में सहस्राब्दियों तक विकसित होती हुई जातियों के प्राचीन साहित्य का पूर्ण संग्रह हो और विद्वानों को अध्ययन, लेखन और प्रकाशन की सुविधा और प्रोत्साहन मिल सके। राष्ट्र में फिर से सार्वभौम दृष्टिकोण प्रचलित होने के लिये साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की सार्वभौमता एक अनिवार्य और आवश्यक सीढ़ी है। जिस समय वैदिक आर्य अपने दृष्टिकोण को सुपर्ण की तरह दूर तक फैलाकर 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' के वाक्य का उच्चारण करता था, उस समय उसके उस कथन में मिथ्या अभिमान या कोरी अभिलाषा न होकर अपने समय की

* जिन्हें हम अँगरेजी के माध्यम से यूफ्रेटीज और टाइग्रिस कहते हैं।

परिस्थिति का एक सच्चा प्रतिबिंब अंकित था। इसकी वैज्ञानिक और सत्यात्मक परख के लिये हमें प्राचीन ईरान, तूरान और सुमेर से लेकर बावेरु (बेबीलोन) तथा शूषा (आधुनिक सूसा) के काल तक के समस्त इतिहास और प्राचीन भूगोल का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। इन देशों में प्राचीन भूगोल के जो नाम हों, उनकी पहचान करके हमारा अपना इतिहास भी बहुत कुछ लाभान्वित हो सकता है। एक बात विशेष है। मोहंजोदड़ो और हड़प्पा (प्राचीन हरियूपा) की खुदाई ने भारतीय पुरातत्त्व को यह प्रतिष्ठा दी है कि वह वरुण की पच्छिमी दिशा के पाँच हजार वर्ष बूढ़े पुरातत्त्व से आयु में बराबरी की टक्कर ले सके और कंधे से कंधा मिलाकर चल सके। विक्रम से तीन सहस्राब्दी पूर्व सिंधु के तट पर फूलने-फलनेवाली यह सभ्यता म्लेच्छ जाति, असुर जाति एवं आर्य जाति की सभ्यताओं से किस प्रकार संबंधित थी, इस रहस्य का उद्घाटन भावी पुरातत्त्ववेत्ताओं को करना है। इस अनुसंधान-कार्य में भारतीय पुरातत्त्व वेत्ताओं को भी भाग लेना आवश्यक है। यदि इस प्रश्न से लोहा लेने के लिये भारतीय विद्वान् ऊँचे नहीं उठते तो उनका पांडित्य संसार में बौनों की तरह अपमानित रह जायगा। इस प्रश्न को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। आर्य जाति का संसार की सभ्यता पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। सभ्य संसार की महान् जातियाँ और भाषाएँ आर्य परिवार से संबंधित हैं। आर्यों के साहित्य, धर्म और भाषा का साक्षात् उत्तराधिकार भारतवर्ष को प्राप्त हुआ है और उसे ज्ञान की पैतृक संपत्ति को ठीक प्रकार से समझने के लिये प्रयत्न करना है। आर्य जाति के जन्म, अभ्युदय और प्रसार की रोमांचकारी कथा को फिर से सत्य की भूमि पर स्थापित करने के लिये भी आर्य साहित्य के साथ साथ पश्चिमी क्षेत्र में उपलब्ध साहित्य और सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन की अत्यंत आवश्यकता है। ईराक और तुर्की के अनेक स्थानों से प्राप्त कीलाक्षर लेखों के भंडार पश्चिमी देशों को भी अब तक प्राप्त होते रहे हैं। उस सामग्री और उस साहित्य में यहाँ के पुराविदों को भी अपनी रुचि बढ़ानी चाहिए। इस कार्य के संपादन के लिये एक केंद्रीय पुरातत्त्व-मंदिर की स्थापना की शीघ्र से शीघ्र आवश्यकता है।

उपायनपर्व का एक अध्ययन

[लेखक—श्री डा० मोतीचंद्र, एम० ए०, पी-एच्० डी०]

बहुत प्राचीन काल से हिंदुओं ने महाभारत को अभिलषितार्थचिंतामणि माना है। हिंदू धर्म तथा संस्कृति संबंधी शायद ही ऐसे कोई विषय हों जिन पर महाभारतकार ने प्रकाश न डाला हो। महाभारत की रचना कोई राजनैतिक या सामाजिक उद्देश्य को लेकर नहीं हुई थी, और न उसका उद्देश्य देश की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालना ही था। इसलिये महाभारत के आदिपर्व, सभापर्व तथा अरण्यपर्व में जो कुछ भी भूगोल का वर्णन आया है वह प्रसंगवश ही है, और उसमें कोई विशेष तारतम्य नहीं है। प्रायः देशों, पर्वतों, नदियों के केवल नाम बिना किसी पते के दे दिए गए हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि महाभारतकारों का यह विश्वास था कि उनके समकालीन भारतीय अपने भूगोल की जानकारी रखते थे। ऐसी अवस्था में महाभारत की भूगोल की जटिल समस्या को सुलझाने के लिये हमें ग्रीक, चीनी तथा मध्यकालीन अरब के भूगोलवेत्ताओं की शरण में जाना पड़ता है। प्राचीन भारत के भूगोल की खोज में मेसन, बर्न, वुड, सेंट मार्टिन, कनिंघम, होलिडश तथा स्टाइन अग्रगण्य रहे हैं और उन्होंने भारतीय भूगोल संबंधी बहुत से कठिन प्रश्नों की खोज की है। पुरातत्त्व तथा उसके साथी विज्ञानों ने भी भारतीय भूगोल की गुत्थियों को सुलझाने में काफी सहायता दी है। पंजाब के बहुत से गणतंत्रों का पता हमको केवल उनके सिक्कों से मिलता है। भौगोलिक तत्त्वावधान के संबंध में हमें पुराणों से बहुत सहायता मिलनी चाहिए थी, परंतु उनका पाठ इतना भ्रष्ट हो चुका है कि सिवा थोड़े-बहुत नामों के, जो अब भी प्रचलित हैं, बाकी नदियों, पहाड़ों तथा जनपदों का पता नहीं चलता। पुराणों के 'भुवनकोष' प्रायः रूढ़िगत हैं और ऐसा मालूम होता है कि सूत्रकाल में भारतीय भूगोल का एक खाका खींचा गया और वही खाका हजारों वर्ष बाद भी ज्यों का त्यों टूटता-फूटता हमारे सामने चला

आया। इसमें नई बातों का समावेश बहुत कम हुआ। बौद्ध पाली-साहित्य में भारतीय भूगोल पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ता है। लेकिन इसमें बिहार तथा पूर्व युक्तप्रांत के भूगोल पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। बाद में जैसे-जैसे बौद्धधर्म की उन्नति होती गई तथा उसका विस्तार गंधार, अफगानिस्तान, मध्य एशिया तथा चीन में बढ़ता गया, वैसे-वैसे तत्कालीन बौद्ध साहित्य में उन प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता गया। चीनी त्रिपिटक में भी कुछ ऐसा साहित्य सुरक्षित है जिससे पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा पंजाब के भूगोल पर प्रकाश पड़ता है। ऐसी दशा में भारतीय भूगोल के विद्यार्थी को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। एक ओर तो उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण को हमेशा ध्यान में रखना पड़ता है और दूसरी ओर उसके पास साधन-सामग्री का अभाव रहता है। भाषा-शास्त्र आधुनिक भौगोलिक खोजों में काफी सहायता प्रदान करता है, लेकिन भौगोलिक खोजों में कभी-कभी इस सहायता से बहुत कुछ हानि भी पहुँचने की संभावना रहती है। भिन्न भिन्न उच्चारणों के सहारे एक शब्द को दूसरे से मिलाने के लालच का संवरण बहुत कम लोग कर सकते हैं। लैसेन, सेंट मार्टिन तथा कनिंघम की पुस्तकों में प्रायः यह अवगुण काफी तादाद में मौजूद है। भाषाशास्त्र एक पथ-प्रदर्शन का काम कर सकता है लेकिन उसके नतीजों का मिलान दूसरे प्रमाण ग्रंथों से अवश्य कर लेना चाहिए।

इस लेख में मैंने सभापर्व के अंतर्गत 'उपायनपर्व' के भौगोलिक वर्णन के विवेचन का प्रयत्न किया है। राजसूय यज्ञ के समय बहुत सी जातियों तथा जनपद के प्रतिनिधि युधिष्ठिर को उपहार (उपायन) देने आए। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद महाभारत का यह-पर्व अपनी काफी महत्ता रखता है। इसमें न केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश, पूर्वी अफगानिस्तान, पंजाब तथा मध्य एशिया की भौगोलिक स्थिति का वर्णन है, बल्कि इसमें उन देशों की तत्कालीन आर्थिक अवस्था, उपज तथा व्यापारिक वस्तुओं का भी अच्छा वर्णन हुआ है। मैंने भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट द्वारा संपादित सभापर्व की मदद अपने लेख में ली है। इस संस्करण की यह विशेषता है कि इसके पाठ बहुत ही शुद्ध हैं। जितने भी पाठभेद मिल सकते हैं वे पाद-टिप्पणियों में दे दिए गए हैं।

इनसे भी भूगोल की गुत्थियों को सुलझाने में बहुत कुछ मदद मिलती है। मैंने, जहाँ तक हो सका है, भा० ओ० रिसर्च इंस्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित (आदि, सभा, अरण्य, विराट) पर्वों से ही उद्धरण लिए हैं, लेकिन कभी कभी मैंने कलकत्ता के १८३६ ई० के संस्करणवाले महाभारत से भी मदद ली है।

महाभारत के उन भौगोलिक अंशों (दिग्विजयपर्व, अ० २३ से २९ और उपायनपर्व, अ० ४७, ४८; अरण्यपर्व इत्यादि) के अध्ययन करते हुए मुझे ऐसा पता चला कि महाभारतकार पंजाब के गणतंत्रों को हेय दृष्टि से देखते थे तथा उन्हें म्लेच्छ, यवन, बर्बर, दस्यु कहने में भी संकोच न करते थे। उनका ऐसा विश्वास था कि पंजाबियों के संसर्ग से आर्य-संस्कृति को धक्का लगने की संभावना है। एक साँस में महाभारतकार ने आंध्र, शक, यवन, पुलिंद, औरुणिक, कंबोज, सूत तथा आभीरों (अर० पर्व, १८६, २९-३०) को 'मिथ्यानुशासिनः' (मिथ्या शासक), 'पापाः' (पापी) तथा 'मृषावादपरायणाः' (झूठ में तत्पर) इत्यादि विशेषणों से संबोधित किया है। पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा पंजाब को खरोष्ट्र देश से संबोधित किया है। कर्ण पर्व में पंजाबियों के प्रति कर्ण ने घृणापूर्ण शब्दों में अवहेलना प्रकट की है। शल्य द्वारा उत्तेजित किए जाने पर कर्ण ने पंजाबियो तथा मद्रकों की काफी लानत-मलामत की है। मद्रकों को उसने धोखेबाज, घृणा का पात्र तथा बर्बर-भाषा-भाषी कहा है। (कर्णपर्व ४०।२०)। क्रोध के आवेश में कर्ण ने पंजाबी स्त्रियों के प्रति भी काफी कड़े वाक्य कहे हैं (कर्णपर्व ४४।३)। एक ब्राह्मण की आँखों-देखी पंजाब-अवस्था का वर्णन उस ब्राह्मण के शब्दों में कर्ण यों करता है—'मैं वाहिकों में रह चुका हूँ, मैं उनके आचरणों से अवगत हूँ। उनकी स्त्रियाँ अश्लील गाने गाती हुई कभी-कभी वस्त्र भी फेंक देती हैं। और उनका गाना क्या ? ऐसा ज्ञात होता है कि गधे रेंक रहे हों।' इसी प्रकरण में कर्ण एक पंजाबी लोकगीत को भी देता है, जिसका अर्थ यह है—'सुंदर भूषण-वस्त्रों से आच्छादित स्त्रियाँ कुरु-जांगल के मुझ गरीब वाहीक के लिये तैयार किए बैठी हैं। कौन-सा ऐसा दिन होगा जब शतद्रु और इरावती पारकर मैं अपने देश में अपनी पुरानी प्रेयसियों से मिल सकूँगा। अरे वह कौन-सा ऐसा दिन होगा जब मैं बाजे-गाजे के साथ अपने घोड़े-गधे

लिए हुए सुगंधित शमी, पीलु और करील के जंगलों में होता हुआ अपने देश में पहुँचूँगा ?' एक दूसरे लोकगीत में वह वाहीक कहता है—'अरे वह सुअवसर कब आवेगा जब मैं शाकला में फिर से वाहीक गाने गाऊँगा, तथा वह गोमांस, गौड़ी-सुरा खा-पीकर सुलंकृता स्त्रियों के साथ आनंद कर सकूँगा ?' (कर्णपर्व, श्लो० २०५१)।

एक दूसरी जगह कर्ण ने वाहीकों को गधियों और घोड़ियों का दूध पीनेवाला कहा है (२०५९)। पंजाबियों पर इस तरह प्रहार होते देखकर एक प्रश्न उठता है कि मध्यदेश के ब्राह्मण पंजाब से इतना नाराज क्यों थे ? यह तो विदित ही है कि वैदिक धर्म की नींव पंजाब में पड़ी। पृथिवीसूक्त में पंजाब तथा हिमालय का वर्णन है। भीष्मपर्व (अ० ९) में चक्रवर्तियों की श्रेणी में पंजाब के शिबि औशीनर की भी गणना की गई है। फिर क्या कारण था कि महाभारतकार की दृष्टि में पंजाबी इतने नीचे गिर गए थे ? कारण स्पष्ट है। पंजाब में जिस संस्कृति का जन्म तथा संस्कार हुआ वही संस्कृति धीरे धीरे पूर्व की ओर हटती हुई मध्यदेश तथा राजपूताने में आकर स्थित हो गई। यहीं पर ब्राह्मण-संस्कृति अपने प्राचीन विश्वास तथा दर्शन को लेकर जम गई। कालांतर में यही देश ब्राह्मणों का स्वर्ग हो गया। ब्राह्मणों का यह विश्वास दिन प्रति दिन बढ़ता ही गया कि पंजाब में जो नई नई जातियाँ पैर जमाती गईं उनकी असंस्कृत धर्मभावनाओं के संघर्ष से ब्राह्मण-धर्म को एक गहरा खतरा था। नवीन आगंतुकों के तथा भारत में रहनेवाली आदिम जातियों के विश्वास ब्राह्मण-धर्म के अनुकूल न होने से ब्राह्मण इनको हौवे के रूप में देखने लगे। एक उदाहरण लीजिए—सरस्वती विनशन के पास इसलिये नष्ट हो गई कि वह निषादों का संसर्ग सहन नहीं कर सकती थी (अरण्य १३०, ३-४)। इससे बढ़कर बेहूदा बात और कौन हो सकती है ? लेकिन इसमें हम उस विश्वास की जड़ बँधते देखते हैं जिसके द्वारा ब्राह्मणवर्ग धीरे धीरे अपने अनुयायियों को म्लेच्छों के संसर्ग से अलग रखने की चेष्टा करते हुए देख पड़ते हैं। अरण्य पर्व में जहाँ तीर्थों का वर्णन आया है वहाँ भी हम देखते हैं कि हमारा ध्यान कुरुक्षेत्र, गंगाद्वार, मारवाड़, काठियावाड़ तथा मध्यदेश के छोटे

छोटे तीर्थों ही की तरफ आकृष्ट किया गया है। दूसरे की तरफ से खिंचाव की यह प्रवृत्ति महाभारत, पुराणों और स्मृतियों में अच्छी तरह देख पड़ती है। इस प्रवृत्ति ने ही उस घृणात्मक भाव को जन्म दिया जिसके द्वारा देश नाना जातियों तथा छोटे छोटे जनपदों में विभक्त हुआ और समाज की संगठन-शक्ति ढीली होकर बिखरने लगी। जैनों तथा बौद्धों के प्रादुर्भाव से ब्राह्मणों की यह प्रवृत्ति घटी नहीं बल्कि बढ़ी। इनसे बचने के लिये ब्राह्मणों ने और भी कठिन सामाजिक नियम बनाया। पर इन सब का नतीजा सिवा संघटित समाज को छिन्न-भिन्न करने के और कुछ न हुआ।

महाभारत के भूगोल का विशेष अंग बहुत से दिग्विजय हैं। दिग्विजय-पर्व में अर्जुन, भीम, सहदेव तथा नकुल के दिग्विजयों के वर्णन हैं। इन दिग्विजयों के संबंध में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। भौगोलिक दृष्टिकोण से इन दिग्विजयों का काफी महत्त्व है। इनसे न केवल नगरों इत्यादि के वर्णन का पता चलता है बल्कि बड़े बड़े राजमार्गों का भी पता चलता है। इनसे यह भी पता चलता है कि तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं को महाभारत के पात्रों पर घटा दिया गया है। इन दिग्विजयों से यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय राजा लोग एक ही समय इतनी लंबी लंबी चढ़ाइयाँ करते थे। सच तो यह है कि छोटी-मोटी चढ़ाइयों को एक सूत्र में ग्रथन करके इन दिग्विजयों का सूत्रपात होता है।

सभापर्व में पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, पूर्वी अफगानिस्तान तथा पंजाब के स्थानों का वर्णन है। कभी कभी भौगोलिक दिशाओं का इंगन है लेकिन सर्वदा नहीं। भाग्यवश इन भौगोलिक तालिकाओं में एक तरह का क्रम पाया जाता है जिससे उन स्थानों की पहचान में बहुत मदद मिलती है। भिन्न भिन्न देशों की पैदावारों से भी उनकी पहचान की जा सकती है।

महाभारत के भूगोल से एक खास बात यह प्रकट होती है कि भारतवर्ष की सीमा उस समय पूर्वी अफगानिस्तान तथा वंक्षु के पास के प्रदेशों तक थी। यदि इस बात को हम ध्यान में रखेंगे तो बहुत सी कठिनाइयाँ हल हो सकेंगी और महाभारत की बहुत सी नदियाँ, नगर, पहाड़ इत्यादि आधुनिक भारतवर्ष की सीमा के ही अंदर न खोजने पड़ेंगे। ई० पू० दूसरी शताब्दि में भारतीय संस्कृति भारतवर्ष से बहुत दूर अफगानिस्तान तथा वंक्षु प्रदेश तक फैल गई थी।

वंक्षु प्रदेश पर इस संस्कृति का ग्रीक तथा ईरानी संस्कृतियों से आदान प्रदान हुआ, जिसके फलस्वरूप ऐसी औपनिवेशिक संस्कृति का जन्म हुआ जिसमें भारतीय, ग्रीक तथा ईरानी संस्कृतियों का एक अपूर्व सम्मिलन हुआ।

§ २

महाभारत के काल के संबंध में अब भी बहुत विवाद है। दाह्लमान ('दास महाभारत आल्स एपॉस उंड रेख्टबुख' और 'जेनसिस डेस महाभारत') के अनुसार महाभारत की रचना पाँचवीं या छठी शताब्दि में हुई। यह सिद्धांत अब मान्य नहीं है। विद्वानों द्वारा माना जाने लगा है कि महाभारत की रचना एक आदमी द्वारा नहीं हुई है। महाभारत के भौगोलिक अध्ययन में यह आवश्यक नहीं कि हम महाभारत के समय की विवेचना करें। इस खंड में केवल हम यही दिखाने की चेष्टा करेंगे कि सभापर्व या दिग्विजय-(उपायन)पर्व में जो भौगोलिक अवतरण आए हैं उनसे भौगोलिक स्थिति पर क्या प्रकाश पड़ता है।

अर्जुन के दिग्विजय (सभा० अ० २३-२५) से सभापर्व के समय पर काफी प्रकाश पड़ता है। अर्जुन का दिग्विजय हम जैसा पीछे देखेंगे, दो या तीन विभागों में बाँटा जा सकता है। इस जगह हम केवल उस विभाग की विवेचना करेंगे जहाँ अर्जुन कांबोजों की मदद से दरदों को जीतकर (सभा० २४,२२) उत्तर की ओर बढ़े, तथा दस्यु जनपदों को जीतते हुए लोह, परम कांबोज, ऋषिक तथा परमऋषिक राजाओं को उन्होंने गहरी हार दी (सभा० २४, २३-२५)। इस संबंध में ऋषकों तथा परमऋषिकों की भौगोलिक स्थिति जानना बहुत आवश्यक है। इनकी स्थिति को जानने के लिये हमें अर्जुन के साथ साथ चलते हुए उस रास्ते पर आना चाहिए जहाँ से चढ़ाई करने को वह उत्तर की ओर बढ़ा। बाह्लीकों को जीतकर (सभा० २३, २१) उसने दरद और कंबोज की संयुक्त सेना को (२३,२२) हराया। इस संबंध में हमें कंबोज देश की स्थिति अवश्य जाननी चाहिए। इसका विवेचन पीछे किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि कंबोज प्रदेश न तो चित्राल था न काबुल पर जैसा श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने कहा है, वह बदख्शाँ और प्राचीन पामीर प्रदेश था। अब हमें यह जानने की कोशिश करनी है कि

अर्जुन ने बाल्हीक से उत्तर की ओर जाने के लिये कौन सा मार्ग लिया। इस प्रश्न का दारोमदार 'वल्गु' शब्द की पहचान में है। विचार करने पर पता लगता है कि 'वल्गु' पूर्वी अफगानिस्तान की बगलान नदी है। वंक्षु प्रदेशों की जाँच-पड़ताल में वुड तथा लॉर्ड ने उस रास्ते की पड़ताल की जो कुंदूज से दक्षिण की ओर कुंदूज नदी के साथ साथ कुंदूज और बगलान के संगम तक जाता है। वहाँ तक पहुँच कर वे लोग नदी के ऊपर चलते हुए मुर्गदर्रे से होकर अंदराब की घाटी में आए और फिर पूरब की तरफ होते हुए खावक दर्रे को पार करते हुए वे पंजशीर घाटी पहुँचे और वहाँ से काबुल। यह रास्ता कठिन न था। वंक्षु तथा काबुल के बीच में केवल दो दर्रे मिले जो इतने ऊँचे न थे कि उनसे कोई कठिनाई पड़ सके (होल्डिश—दि गेट्स ऑव् इंडिया, पृ० ४३५)। अर्जुन शायद इसी पर्वत से श्वेत पर्वत, जिसे हम सफेद कोह कहते हैं, लौटे। लेकिन उत्तर में परम कांबोज तथा ऋषिकों से लड़ते जाते हुए अर्जुन ने बगलान का रास्ता छोड़ दिया, नहीं तो वह सीधा काबुल पहुँच जाता। वह सीधा उत्तर की ओर बढ़ा और लड़ाई में उसने कांबोजों का दरदों के साथ जो उसकी मदद के लिये दोरा दर्रे से, जो हिंदूकुश और बदख्शाँ को जोड़ने का एक प्रधान दर्रा है, आए थे, हराया (होल्डिश, पृ० ४३५)। लड़ाई का दूसरा दौरा तब शुरू होता है जब अर्जुन उत्तर-पूरब की तरफ बढ़ा (सभा०, २४।२३)। यहाँ उसने बहुत से दस्यु जनपदों को हराया। शायद ये दस्यु उन पूर्वी ईरानी बोलनेवालों के पुरखे होंगे जिन्हें आज दिन हम 'बखानी', 'शिघनानी', 'रोशनी' तथा 'शरीकोली' कहकर पुकारते हैं। इसके बाद अर्जुन ने लोह, परम कांबोज, ऋषिक, उत्तर ऋषिकों की संयुक्त सेना को हराया (सभा०, २४।२४)। परम कांबोजा की पहचान जयचंद्र विद्यालंकार ने (भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० ३१३-१४) गल्चा बोलनेवाले याग्नूदियों से की है, जो याग्नूब नदी के ऊपरी हिस्से में पामीर के उत्तर में रहते हैं। जयचंद्रजी ने 'यू-शी' लोगों की पहचान ऋषिकों से की है। ऋषिकों और यू-शी लोगों की पहचान का प्रश्न बहुत पुराना है। इस प्रश्न का संबंध शकों की भाषा आत्शीकांत की पहचान से है (कोनो का० इ० इं०, ५८, नो० २)। इस संबंध में बहुत कुछ बहस हुई है, जिसका वर्णन यहाँ

नहीं हो सकता। हर्थ ने आर्शी से यू-शी की व्युत्पत्ति की है। क्लैपॉक ने यू-शी की व्युत्पत्ति एथ से की है। फ्रैंके ने इसकी उत्पत्ति एथ या गेथ से की है, तथा बैरल हान्स्टाइन इसे गुर्शी से उत्पन्न मानते हैं (कोनो की पुस्तक, पृ० १९)।

ऋषिकों के बारे में विचार प्रकट करने से पहले यह अच्छा होगा कि हम उनके प्रसार से परिचित हो लें, तथा यदि संभव हो तो महाभारत में जो ऋषिकों के विषय में मिलता है, उससे उसका मिलान करें। इतिहास में यू-शी लोगों का प्रादुर्भाव पहले-पहल उत्तर-पच्छिमी चीन के कांसू प्रदेश में मिलता है। यू-शी तथा ह्यूंग्नू में, जो बाद के हूणों के पूर्वपुरुष थे, कशमकश शुरू हुई जिसके फल-स्वरूप १७६ या १७४ ई० पू० में यू-शी लोगों को हार माननी पड़ी और वे कांसू से पच्छिम की ओर एक लंबी मंजिल पर चल पड़े। उनका एक भाग, जिसे चीनी लेखक सियाव-योशी या छोटे यू-शी के नाम से पुकारते थे, घबड़ाकर दक्षिण की ओर बढ़ गया तथा तारीम-कांठे में बसा (ज० अमेरिकन, ओरि० सो० १९१७, पृ० ९७)। बाकी यू-शी आगे बढ़े। ह्यूंग्नू बराबर उनका पीछा करते गए। १६० ई० पू० के करीब उन्होंने पच्छिम बढ़ते हुए इसिकुल झील के किनारे साइमन लोगों को हराया। फलतः साइमन दक्षिण की ओर भाग खड़े हुए। ठीक इसी के बाद यू-शी लोगों को फिर ह्यूंग्नू से हारकर भागना पड़ा। १६० से १२८ ई० पू० तक यू शी के इतिहास का कोई पता नहीं। १४१ से १२८ ई० पू० के बीच में उन्होंने जक्सार्थ नदी को फर्गाना के पास पार किया और बाल्हीक के ग्रीक साम्राज्य का अंत कर दिया। अब हमें यू-शी द्वारा बाल्हीक के विजय पर ध्यान देना चाहिए। पुराने ऐतिहासिकों का मत रहा है कि बाल्हीक का पतन शकों द्वारा हुआ। यह बात समझ में नहीं आती। क्योंकि चांग-किएन ने साफ लिखा है कि बाल्हीक के पतन के कारण ता-यू-शी थे। टार्न के अनुसार (टार्न, दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एंड इंडिया, पृ० २८३) यह भूल स्त्राबो (११।५,११) के एक अवतरण से हुई है, जिसमें शकों के द्वारा बल्त्र जीत जाने का उल्लेख है। पर संदर्भ की जाँच करने से विदित होगा कि शकों की जिस विजय का इसमें उल्लेख है वह हखमानी युग में ई० पू० ७वीं श० में हुई होगी।

अपोलोडोरस के कथनानुसार बल्त्र-विजय में चार फिरंदर जातियों का हाथ था। वे थीं असियानी, पसियानी, तुखारी तथा सकरौली (स्त्राबो ११।५,११)। त्रोगस मूल (४१) के अनुसार असियानी, रसरौची लोगों ने बाल्हीक जीता। चाँग-कियान के यू-शी की खोज हम त्रोगस के असियानी या सरौकी में कर सकते हैं। यह स्पष्ट है कि सरौको से इसका संबंध नहीं हो सकता, इसलिये असियानी ही यू-शी का प्रतीक है (टार्न, वही, पृ० २८४)। असियानी अस्सियाई का विशेषणात्मक रूप है, इसलिये अस्सियाई ही यू-शी हैं। इस पहचान को लेकर विद्वानों में बहुत बहस हुई। १९१८-१९ में यह विश्वास किया जाता था कि मध्य एशिया से मिली शक-पुस्तकों का नाम अर्शी था। परंतु बहुत से लोग इसके अस्तित्व में संदेह करते हैं। टार्न के अनुसार इसमें संदेह नहीं कि ग्रीक आर्शी जाति के लोगों को अच्छी तरह जानते थे और प्लिनी (६,१६।४८) में इसका वर्णन है। प्लिनी ने आर्शी लोगों को उन जातियों में घुसेड़ दिया है जिनका उसे पता न था।

अब हमें अर्जुनदिग्विजय के परम ऋषिकों (सभा० २४।२५) की खोज करनी है। बक्त्रिया की लड़ाई में अपोलोडोरस एक शक कबीले का वर्णन करता है जिसका नाम पसियानी था। जिस प्रकार असियानी असियाई का विशेषणात्मक रूप है, उसी प्रकार पसियानी पसियाई या पसी का रूप होना चाहिए। इसमें शक नहीं कि इस नाम की तुलना हम ग्रीक इतिहास-वेत्ताओं के पर्सिआई से कर सकते हैं। टार्न के अनुसार (पृ० २९३) पर्सिआई पारसी जाति थी, लेकिन इस पक्ष में उसने कोई युक्तिसंगत प्रमाण नहीं दिया।

यू-शी प्रश्न के बारे में अब हमें महाभारत से जो कुछ मिलता है उसका विवेचन करना चाहिए। आदिपर्व (६१।३०) में ऋषिक राजाओं की उत्पत्ति चंद्र तथा दिति से मानी गई है। इस संबंध में यह जानने योग्य बात है कि प्रो० शार्पेंतियर (ज. डी० एम० जी०, १९१७,७७) के अनुसार यू-शी शब्द चंद्र जाति का द्योतक है। यह कहना कठिन है कि ऋषिकों तथा चंद्र देवता में कौनसा संबंध था। उद्योगपर्व (४।१५) में फिर ऋषिकों से भेंट होती है जहाँ इनका वर्णन शक, पह्लव, दरद, कंबोज तथा पश्चिम अनूपकों के साथ

किया गया है। यह मार्के की बात है कि यहाँ भी वे कंबोजों के साथ ही हैं। पाठभेदों में ऋषिक का विशेषणात्मक रूप आर्षिक भी आता है। सभापर्व (२४।२३-२४) में ऋषिकों की स्थिति कांबोज के उत्तरपूर्व की गई है। भांडारकर प्राच्य परिषद् के सभापर्व के संस्करण के पाठभेदों में ऋषिक के प्राकृत रूप इशि और इशी भी दिए हैं। इन रूपों के जानने की बहुत आवश्यकता है। इनसे प्रकट होगा कि ग्रीक इतिहासकार संस्कृत और प्राकृत के दोनों रूपों से अभिज्ञ थे। इतनी विवेचना के बाद हमें पता चल जाना चाहिए कि महाभारत में ऋषिक का विशेषणात्मक रूप आर्षिक था, उसका प्राकृत रूप इषिक था तथा परम ऋषिक का विशेषणात्मक रूप परमार्षिक था। इससे पता चलता है कि ग्रीक इसियाई संस्कृत ऋषिक से और ग्रीक असियाई संस्कृत आर्षिक से बना है। ग्रीक पसियानी की तुलना हम परम ऋषिकों से कर सकते हैं। मालूम पड़ता है कि ऋषिक और परम ऋषिक दोनों ही ऋषिक जाति के कबीले थे और इन सबके सहयोग से बाल्हीक पर आक्रमण हुआ होगा। अर्जुन के दिग्विजय की ओर एक बार फिर निगाह दौड़ाने से यह प्रतीत होगा कि लोह, कांबोज तथा दस्युगणों की स्थिति उस प्रदेश में रही होगी, जिसे हम आज ताजिक गणतंत्र (सोवियट रिपब्लिक) के नाम से जानते हैं और जो कुछ ही दिन पहले बखान, शिग्नान, रोशन दर्वाज आदि छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। हमें इस बात का पता है कि १६० ई० पू० के लगभग यू-शी इशिकुल झील के पास थे और उन्हें हूगनू से हारकर भागना पड़ा। मालूम पड़ता है कि महाभारतकार ने हूगनुओं की पराक्रम-शक्ति अर्जुन पर डाल दी। यू-शी तथा पूर्वी ईरानी बोलनेवाली जातियों का सम्मेलन ऑक्सस नदी पर अनहोनी घटना नहीं है। दोनों एक ही ईरानी नस्ल के थे।

इस संबंध में एक और मार्के की बात है। सभा० (२४।२४) में ऋषिकों के साथ परम, उत्तर विशेषण का प्रयोग हुआ है, जिसके माने बड़ा होता है और जो ता यू-शी का ठीक ठीक अनुवाद सा लगता है। उपायन पर्व (४७।१९) में निम्नलिखित जातियों का क्रम से वर्णन है—चीन, हूण, शक तथा ओड्र। एक दूसरी जगह (४७।२६) तुखार और कंक साथ दिए हैं।

तीसरी जगह (४८।१५) शौंडिक, तथा कुकुर आए हैं। शकों के विषय में कुछ कहने से पहले यह आवश्यक नहीं कि हम उन प्राचीन ग्रीक अवतरणों की भी जाँच-पड़ताल करें जिनमें शकों का वर्णन है। चीन के इतिहास में इनका उल्लेख सई नाम से किया गया है, और सबसे प्राचीन वृत्तांतों में 'साई वांग' कहा गया है। १६० ई० पू० में ये अपने देश में यू-ची द्वारा निकाल दिए गए। साई वांग के अर्थ, कोनौ के अनुसार, शक-मुरुंड या शक-स्वामी होता है (का० ई० ई०, भाग २, पृ० २०)। चीनी ऐतिहासिकों के अनुसार यू-शियों द्वारा हराए जाने के बाद साई-वांग किपिनिया (कपिशा) की ओर बढ़े। इस संबंध में अभी ऐतिहासिकों का एकमत नहीं हो सका कि शकों ने दक्षिण बढ़ने का कौन सा रास्ता पकड़ा। कुछ लोगों का कहना है कि यासीन घाटी होते हुए वे कश्मीर, उद्यान या स्वात गए तथा कपिशा उनके अधीन हुई। परंतु आधुनिक मतों के अनुसार वे हिरात होते हुए सीस्तान गए। इस विषय में टार्न (पृ० २७८) का भी एक मत है। उनके अनुसार दक्षिण की ओर भागते हुए शकों ने जक्सार्थ के पास फर्गना को पार किया। ऐसा लगता है कि यहाँ उनका कबीला भंग हो गया। हो सकता है कि उसमें से कुछ जत्थे उन कान-क्यू लोगों में, जिनका अधिकार ताशकंद प्रदेश पर था, मिल गए। जो शक कपिशा पहुँच गए उन्होंने शकरौची, जिनका अधिकार खोजंद तथा उसके पास के घास के मैदानों पर था, लोगों का साथ पकड़ लिया। बाकी शक फर्गना के ग्रीक इलाके में बस गए और यहीं पर १२८ ई० पू० में उनकी चांग-कियांग से मुलाकात हुई।

तुखारों के संबंध में भी विद्वानों में काफी चर्चा रही है। रिक्तुफिन, हर्जफेल्ड आदि विद्वानों का मत रहा है कि तुखारी यू-शी की शाखा थे। इनके आदिम-निवास के प्रश्न पर भी काफी बहस रही है। टार्न के अनुसार तुखार यू-शी कबीले की एक शाखा थे (टार्न, पृ० २८६)। तुखारों की भाषा के संबंध में काफी बहस रही है। एक मत यह था कि वे अपनी भाषा यूरोप से लाए, लेकिन इस संबंध में अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो सका।

कंकों की पहचान चीनी ऐतिहासिकों के कांकू से की जा सकती है, जो सोग्दियाना के रहनेवाले थे। चांग-केकू के अनुसार कांकू दक्षिण की ओर

यू-शी के राजनीतिक अधिकार में थे तथा पूर्व की ओर ह्यु ंग-नू के। शकों का, यदि हम उन्हें ता-युवान या फर्गाना के इलाके में स्थित मानें, तथा कंकों का संबंध स्थापित हो जाता है, क्योंकि दोनों का देश सटा हुआ है। तुखार जो यू-शी के अंग थे, शायद कुछ और दक्खिन में रहते थे। यदि ऐसी बात है, तो स्पष्ट है कि महाभारत में शक, तुखार और कंकों का क्रम, जैसा कि दूसरी श० ई० पू० में था, ठीक ठीक दिया हुआ है। यह मार्के की बात है कि इस तालिका में ऋषिक नहीं आए हैं। इससे यही नतीजा निकल सकता है कि १६० ई० पू० में अपनी हार के बाद वे और पश्चिम की ओर खसक गए थे। यू-शी के पश्चिम को खसकने के बाद प्रतीत होता है कि तुखार हरौल में आगे भेजे गए। इसलिये महाभारत के उन श्लोकों में जिस स्थिति का वर्णन है वह स्थिति १६० और १२८ ई० पू० के बीच में रही होगी। महाभारत में एक दूसरा प्रकरण भी है, जिससे पता चलता है कि शायद उसका रचना-काल द्वि० श० ई० पू० हो। सहदेव के दिग्विजय (सभा० २८।४९) में दिया हुआ है कि दक्षिण-विजय के अनंतर उसने अंताखी (अंतियोख), रोम (रोमा) तथा अलेक्जंडरिया में अपने दूत भेजे।

अंतियोख की स्थापना सिल्यूकस प्रथम द्वारा लगभग ३०० ई० पू० में हुई (जे० ए० ओ० एस०, ५८, ३६५) इसलिये यदि महाभारत का अंताखी पाठ शुद्ध माना जाय तो उसका काल ३०० ई० पू० के पहले पड़ना चाहिए। मौर्य-युग में सीरिया के सिल्यूकस बादशाहों से तथा भारतीय मौर्य राजाओं से काफी सद्भाव था, और उनमें अकसर दूतों का आदान-प्रदान होता था। अब प्रश्न यह है कि सहदेव द्वारा अंतियोक को दूत भेजना किस ऐतिहासिक घटना की ओर लक्ष्य करता है? काफी विचार करने के बाद, जिनका उल्लेख इस छोटे से लेख में नहीं हो सकता, ज्ञात होता है कि अंतियोक तृतीय (२२१-१८७ ई० पू०) के समय शायद किसी भारतीय राजा के भेजे हुए प्रणिधिवर्ग का इंगन इस घटना से मिलता हो।

रोम (या ठीक लैटिन रूप रोमा) दूसरी श० ई० में कैसे भारतीय साहित्य में आया, यह कहना कठिन नहीं है, इसलिये कि इस बात का पता है कि कोई भारतीय दूत अगस्टस के पहले, प्रथम श० ई० पू० के पहले नहीं

पहुँचा (वार्मिंग्टन, दि कामर्स बिटवीन रोमन एंपायर एंड इंडिया पृ० ३५-३८)। इस बात की संभावना है कि वे भारतीय जिनका संबंध सिरिया के सिल्यूकसवंशी बादशाह से था, रोम के नाम से अभिज्ञ थे। रोम का प्रभाव उन दिनों सीरिया पर छा रहा था, इसी लिये लेखक रोम का नाम देने के लालच का संवरण न कर सका। यह केवल एक अनुमान है। एक दूसरी जगह दूसरा अवतरण वाटधान ब्राह्मणों के संबंध में सभापर्व में आया है (सभा, २९।७)। इस श्लोक में आया है कि नकुल ने मध्यमिका में वाटधान ब्राह्मणों को जीता। ऊपर से वाक्य बिलकुल सीधा जँचता है, पर इसका मतलब गंभीर है। यवनों द्वारा मध्यमिका का घेरा दूसरी श० ई० पू० की पुष्यमित्र शुंग के समय की खास घटना थी, जिसका उल्लेख पतंजलि ने महाभाष्य में भी किया है।

इस संबंध में हमें शुंगों के विषय में कुछ बातें जान लेनी चाहिएँ। शुंग का अर्थ है वटवृक्ष। शायद उनका उद्भव ऐसी जाति से रहा हो जिसका टोटका वट का वृक्ष था। पुष्यमित्र के राज्यकाल की और घटनाओं से हमारा संबंध नहीं। हम उनके राज्यकाल की मुख्य घटना को लेते हैं, जो अपोलोडोटस तथा मेनेंद्र की संमिलित चढ़ाई थी। मध्यमिका की चढ़ाई का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में है (कीलहॉर्न, इं० ऐं० भाग ७, पृ० २६६)। यवन मध्यमिका को घेरे हुए थे। टार्न के अनुसार मध्यमिका का यह घेरा अपोलोडोटस द्वारा डाला गया था (टार्न, वही, पृ० १५०)। अब हमें नकुल की मध्यमिका की चढ़ाई की जाँच-पड़ताल करनी चाहिए। सबसे पहली बात जो हमें मिलती है वह है कि मध्यमिका के राजा को वाटधान कहते थे और नकुल ने उसे जीत लिया। लगता है कि यवनों की मध्यमिका पर चढ़ाई तथा नकुल की मध्यमिका-विजय दोनों घटनाएँ मिला दी गई हैं। इसमें बहुत कम शक है कि शुंग और वाटधान ब्राह्मणों की जड़ एक ही थी, क्योंकि दोनों का टोटका बड़ का पेड़ ही था।

सभापर्व (४७।१९) में एक दूसरी तालिका दी गई है जिसमें चीन, हूण, शक तथा ओड्रों का क्रम से उल्लेख है। हूणों के उल्लेख से अकसर लोग यह समझने लगते हैं कि महाभारत का यह अंश पाँचवीं शताब्दि का होगा जब हूणों ने गुप्त साम्राज्य का अंत कर दिया। पर महाभारत के हूण न तो संभवतः गुप्तकालीन हूण थे और न इनकी खोज हमें भारतवर्ष की आधुनिक सीमा

में ही करनी चाहिए। संभवतः ये हूण चीन की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर बसे हुए ह्यूंग्नू थे, जिनके कारण यू-शी लोगों को अपना देश त्यागना पड़ा और जिनसे बचने के लिये हान राजाओं ने चीन की दीवाल बनाई। उपायनपर्व में जिस क्रम से चीन, हूण इत्यादि की तालिका दी है वह ठीक है। पहले चीन-वासी आते हैं फिर मंगोलिया की तरफ रहनेवाले हूण। इसके बाद शकों के कबीले जो इसिककुल झील के इर्द-गिर्द ई० पू० द्वितीय शताब्दि में बस गए थे और उसके बाद ओड्र जो स्वात के वासी थे और जिनके बारे में हम फिर कुछ कहेंगे। शकों के ठीक पीछे ओड्रों के उल्लेख से हमें संभवत: उस रास्ते का संकेत मिलता है जिसे शकों ने यू-शियों से हराए जाने पर ग्रहण किया था।

ऊपर की विवेचनाओं से सभापर्व के समय पर कुछ प्रकाश पड़ा है। ऋषिक, शक, तुखार, कंक, हूण, चीन इत्यादि जातियों की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डाला जा चुका है। अंताखी और रोमा के उल्लेख से तथा मध्यमिका के घेरे के संबंध में हम बहुत कुछ कह चुके हैं। इन सब प्रमाणों को तोलते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन घटनाओं का उल्लेख हम पाते हैं वे संभवत: १८४ से १४८ ई० पू० के बीच घटी होंगी जो पुष्यमित्र शुंग का राज्यकाल था।

§ ३

दिग्विजयोपरांत पांडवों ने राजसूय यज्ञ की तैयारी की और उसमें दुर्योधन को भी न्योता भेजा गया। उसमें बहुत जोर-शोर की तैयारी की गई। बड़े बड़े जुलूस निकाले गए। बड़े सभा-स्थल की योजना की गई जिसमें भारतवर्ष के कोने कोने से आकर राजाओं तथा गणतंत्र के प्रतिनिधियों ने भेंट दी। बहुत सी बर्बर जातियाँ भी हिमालय तथा हिंदूकुश से आईं; पूर्व भारत के संथाल, शबर और किरात भी उस महान् यज्ञ में सम्मिलित हुए। एक ओर तो वे बर्बर थे और दूसरी ओर थे पंजाब तथा भारत के और प्रांतों के पुराने राजवंश जो अपने साथ घोड़े, हाथी, शाल इत्यादि युधिष्ठिर को भेंट करने के लिये लाए थे। दुर्योधन को ईर्ष्या हुई और वापस लौटने पर उसने धृतराष्ट्र से इसका ठीक ठीक वर्णन किया। इस वर्णन से भारतीय भूगोल पर

पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अब यहाँ पर हम उन प्रदेशों तथा उपहारों का वर्णन करेंगे।

वाटधान—(सभा० ४५।२४) वाट का शब्दार्थ होता है—बरगद की लकड़ी से बनी हुई वस्तु या बरगद का पेड़ या उसकी लकड़ी। आदिपर्व (६१, ५८) में वाटधान भौगोलिक अर्थ में और वंशस्थापक व्यक्ति-विशेष के लिये प्रयुक्त हुआ है। उद्योगपर्व (५।२४) में वे कौरवों के सहायक कहे गए हैं। सभापर्व (२९।७) में मध्यमिका (आधु० चित्तौड़ के पास 'नगरी' गाँव) उनका देश कहा गया है। एक दूसरी जगह (४५।२४) वाटधान ब्राह्मण पशुपालक कहे गए हैं। इन वाटधानों के सैकड़ों छोटे समूह (शत-संघशः) युधिष्ठिर के दरबार में उपायन लेकर पहुँचे। यह कहना अनुचित न होगा सिकंदर की भारतवर्ष की चढ़ाई में (एरियन ६।७) रावी पर एक ब्राह्मणों की नगरी मिली जिसकी पहचान कनिंघम ने मुल्तान के पास अटारी से की है (कनिंघम का भूगोल)। अपोलोडोरस (१७।५३) के कथनानुसार ब्राह्मणों की दूसरी नगरी जो सिंध में थी, उसका नाम हर्मतेलिया था। कनिंघम के अनुसार इस नगर का मध्यकालीन नाम ब्राह्मणाबाद था, जो हैदराबाद से ४५ मील उत्तरपूर्व पर स्थित था। पार्जिटर के अनुसार (मार्क० पु० ५७,३८) वाटधान सतलज के पूर्व फीरोजपुर के दक्षिण में बसे हुए थे। संभवतः वाट-धान ब्राह्मणों के कई गणतंत्र थे जिनकी स्थिति पंजाब, निचले सिंध तथा दक्षिण राजपूताने में थी।

कंबोज—(सभा० २४।२२; ४५।१९-२०; ४७।३-४)। कंबोज का उल्लेख हिंदू, बौद्ध तथा जैन साहित्यों में बहुत आया है। वैदिक साहित्य में कांबोज, औपमन्यव, मद्रगार का एक शिष्य था (वैदिक इंडेक्स १, पृ० ८४-८५)। यह सिद्ध होता है कि मद्रों या उत्तर मद्रों के साथ कांबोजों का कुछ संबंध था और शायद कांबोज और मद्र दोनों में ईरानी तथा भारतीय संस्कृति का सम्मिश्रण था। यास्क (२,१।३-४) का कहना है कि शवति धातु का जाने के अर्थ में व्यवहार केवल कंबोजों में होता है। शवति ईरानी भाषा का एक शब्द है और उसका प्रयोग संस्कृत में नहीं होता। इस शब्द की बुनियाद पर ग्रियर्सन का कहना है कि उत्तर-पश्चिम भारत की सीमा पर

रहनेवाली एक बर्बर जाति थी, जिसकी भाषा ईरानी-मिश्रित संस्कृत थी (ज० ओ० र० स० १९११, ८०२)।

कंबोज शब्द की व्युत्पत्ति लगता है यास्क (२, १, ४) के समय में भी ठीक ठीक नहीं होती थी, क्योंकि यास्क ने यह अनुमान लगाया है कि शायद कंबोज वे भोज थे जो अच्छे कंबल पहना करते थे। इसी बात से यह पता चल जाता है कि कंबोज शब्द की ठीक व्युत्पत्ति से हमारे पंडित अपरिचित थे। बौद्ध साहित्य की एक गाथा (फॉसबाल ६, २१०) से जिसे सबसे पहले डा० कुह्न ने उद्धृत किया था (ज० ओ० र० स० १९१२, पृ० २५५-५७) इस बात का अनुमान और दृढ़ हो जाता है कि कंबोज ईरानी नस्ल के थे। इस गाथा में कहा गया है कि वे मनुष्य पवित्र हैं जो मेंढक, कीड़े, साँप इत्यादि मारते हैं*। ये पारसियों के धार्मिक साहित्य में अहमनी जीव माने गए हैं।

पेतवत्थु की परमार्थदर्शिनी टीका (पी० टी०) में द्वारका का नाम कंबोज के साथ आता है। यह संदर्भ कंबोज की ठीक पहचान के लिये बहुत आवश्यक है जिसका जिक्र हम आगे चलकर करेंगे।

सभापर्व (११।२४) में कंबोज बर्बरों के साथ आए हैं; उद्योगपर्व (१८६, ८०) में इनका संबंध शक-पुलिंद तथा यवनों के साथ आया है। हरिवंश (१३-७६३-६४; १४, ७७५-८३) में आया है कि कंबोज पहले क्षत्रिय थे जो सगर की आज्ञा से पतित किए गए और उनका सिर यवनों की भाँति मूँड़ दिया गया।† पाणिनि के गणपाठ में यवनमुंड और

---

* कीटा पतङ्गा उरगा च भेका हन्त्वा किमिं सुज्झति मक्खिका च।
एतो हि धम्मा अनरियरूपा कम्बोजकानं वितथा बहुन्नम्॥

† अर्ध शकानां शिरसो मुण्डयित्वा विसर्जयत्।
यवनानां शिरः सर्वं कंबोजानां तथैव च॥
पारदा मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रुधारिणः।
निःस्वाध्यायवषट्काराः कृतास्तेन महात्मना॥

कंबोजमुंड (२।१।७२) आए हैं जिनसे पता लगता है कि शक तथा यवनों में मूँड मुड़ाने की प्रथा थी ।

कंबोज देश के घोड़े भी साहित्य में प्रसिद्ध हैं। कंबोज के लोग युधिष्ठिर को राजसूय पर घोड़े देने आए (४७।४)। इनकी संख्या ३०० थी और वे कल्माष तथा तित्तिर नस्ल के थे। इनका भोजन पीलुप तथा इंगुद के फल थे। जातकों में भी कंबोज के घोड़े (कंबोजका अस्सतर, जातक ४, ४६४; गाथा २४२) का वर्णन है। उत्तराध्ययन सूत्र (जैनसूत्र, सै० बु० ई० भा० २, ४७) में यह कहा गया है कि कंबोज के अच्छी तरह सीखे घोड़े सब घोड़ों से बढ़कर होते हैं और किसी प्रकार के शोरगुल से वे डरते नहीं। अर्थशास्त्र (शामशास्त्री अनु० पृ० १४८) में भी उल्लेख है।

घोड़ियों के अलावा कंबोजवालों ने युधिष्ठिर को गाएँ, रथ (४७।४) तथा ३०० ऊँट (४५।२०) भी दिए। उन्होंने साथ साथ भेड़ के ऊन* तथा समूर जिन पर सोने के काम बने थे तथा चित्र-विचित्र चमड़े युधिष्ठिर की सेवा में भेजे†।

ऊपर के वर्णन से इस बात का पता चल गया होगा कि कंबोजवासी कोई साधारण श्रेणी के न थे। पर यह विचित्र बात है कि उनकी भौगोलिक स्थिति के बारे में विद्वानों का एक मत नहीं है। लैसेन के मत से कंबोज की स्थिति काशगर दक्खिन में और काफिरस्थान के पूर्व में थी। राइज़ डेविड्स के अनुसार कंबोज प्रदेश उत्तर-पच्छिमी हिंदुस्तान में प्रसिद्ध था और द्वारका उसकी राजधानी थी। विन्सेंट स्मिथ (इति० पृ० १८४) इसे तिब्बत और हिंदूकुश के पहाड़ों में रखते हैं। प्रो० सिलवाँ लेवी कंबोज और काफिरस्तान को एक ही मानते हैं (जर्नल एशि० १९२३)। प्रो० रायचौधुरी (पोलिटिकल हिस्ट्री इं० हि० स० पृ० ९४-९५) कर्णपर्व (८।४,५) के एक अवतरण को लेकर कंबोज की स्थिति कश्मीर के दक्खिन या दक्खिन पूर्व में मानते हैं।

---

* ऐडांश्चैलान्वार्षदंशान् जातरूपपरिष्कृतान्। (४७।३)

† कदलीमृगमोकानि।

इन भिन्नताओं के देखते हुए कंबोज बिलकुल मृगमरीचिका सा मालूम होता है, जिसके पास तक हम ज्यों ज्यों पहुँचते हैं वह आगे खसकता जाता है। जयचंद्रजी ने इस प्रश्न की जाँच-पड़ताल ('भारतभूमि', पृ० २९७-३०५) में नए ढंग से की है और उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है कि बदख्शाँ और पामीर के पास का ही प्रदेश प्राचीन कंबोज था। इस संबंध में यह कहना अनुचित न होगा कि सिवा प्रो० रायचौधुरी के प्राय: सब विद्वानों ने कंबोज की स्थिति भारत के उत्तरपश्चिम में मानी है। ईसा के बाद सातवीं शताब्दि तक जैसा कि मुक्तापीड़ ललितादित्य की चढ़ाई से प्रकट होता है (राजतर० ४), कंबोज की स्थिति भौट्ट और दरदों के बाद है। भौट्ट बाल्टिस्तान के निवासी थे और दरद बलूचिस्तान के। इससे प्रकट है कि कंबोजों का स्थान बलख बदख्शाँ और पामीर में होगा। पेतवत्थु की टीका परमार्थदीपनी में कंबोज के साथ द्वारका का नाम आया है। यह काठियावाड़ की द्वारका नहीं। यह बदख्शाँ में स्थित दरवाज देश का रूपांतर मात्र है। प्रो० सिलवाँ लेवी के अनुसार टालमी (६, ११,६) का तांबिज़ोई जिसकी स्थिति वंक्षु के दक्खिन में थी, केवल कंबोज शब्द का रूपांतर है (ज० ए० १९२३, पृ० ५४)। अल इद्रसी के एक संदर्भ से कंबोज की स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। बदख्शाँ की सुंदरताएँ बखानने के बाद वह कहता है कि बदख्शाँ की स्थिति कनौज के बगल में है (जिओग्रेफी द अल इद्रसी, अनु० जोबर्ट, भाग १, पृ० ४७८-७९)। इसमें संदेह नहीं कि अल इद्रसी का कनौज हमारा कंबोज है। लगता है कि इद्रसी के समय में कंबोजों के देश की सीमा बहुत घट गई थी, क्योंकि उसके भूगोल में बदख्शाँ एक अलग राज्य है। अब प्रश्न यह है कि इद्रसी के कंबोज की स्थिति कहाँ थी। संभवत: वह काफिरस्तान का ही एक दूसरा नाम है। कंबोज प्राचीन काल में आधुनिक गल्चा बोलनेवालों, जिनमें वखी, शिघ्नी, सरीकोली, जेबकी, संग्लीची, मुंजानी, युद्गा तथा याग्नोबी थे, का प्रदेश था। इस संबंध में यह भी जानने योग्य है कि पामीर के आसपास तथा वंक्षु के स्रोत के पास ही गल्चा बोलनेवाली जातियाँ रहती हैं। प्राचीन काल में शायद बदख्शाँ में भी पूर्वी ईरानी बोली जाती थी (ग्रियर्सन भाषा-पड़ताल, भाग १०, पृ० ४५६)।

रघुवंश (४, ६७) के कथनानुसार कंबोज में रत्नों की खानें थीं। बुड ने अपनी वंक्षु की यात्रा में बताया है कि इशिकाश्म से २० मील की दूरी पर घारान प्रदेश में वंक्षु के दक्षिणी किनारे पर माणिक्य की खानें हैं, कोक्चा की घाटी में राजवर्त (लाजवर्द) की खानें हैं (बुड, वही पृ० १७१)। बदख्शाँ की चाँदी की खानें भी प्राचीन काल में मशहूर थीं। अरब काल में अंदराब तथा बखान में चाँदी की खानें थीं (बार्थोल्ड, तुर्किस्तान डाउन टु दि मंगोल इन्वैजन, पृ० ६५-६७)।

इस संबंध में यह भी जानने योग्य है कि पंजाब में कंबोख नाम की एक कृषि-प्रधान जाति है, परंतु यह कहना मुश्किल है कि प्राचीन काल के कंबोजों से इनका क्या रिश्ता था। इनमें बहुत सी अनुश्रुतियाँ हैं। इनमें से कुछ कंबों का आदिस्थान काश्मीर बतलाती हैं और कुछ गढ़ गजनी। इनमें से कुछ का कहना है कि महाभारत युद्ध में कंबो जाति के पूर्वपुरुषों ने कुरुओं का साथ दिया था। महाभारत के युद्ध के बाद बचे-खुचे कंबो नाभा में बस गए (रोज—ए ग्लॉसरी ऑव् दि कास्ट्स एंड ट्राइब्स इन पंजाब एंड नार्थ वेस्ट फ्रांटियर, भाग २, पृ० ४३-४४)। यह मार्के की बात है कि ये सब अनुश्रुतियाँ कंबोजों की स्थिति सिंधु पार बतलाती हैं। हो सकता है कि ये पुराने कंबोजों के आधुनिक प्रतिनिधि हों।

कार्पासिक—(सभा० ४७।७)। यह शब्द साहित्य में बहुत ही कम आया है, और महाभारत में तो इसका एक ही बार उल्लेख हुआ है। शब्द की ऐतिहासिकता साँची के एक लेख से सिद्ध होती है। १४३ सं० के अभिलेख में कार्पासी ग्राम के अरह नामक एक मनुष्य के भेट का उल्लेख है (मानुमेंट्स ऑव् साँची, भाग १, पृ० ३१४)।

महाभारत कार्पासिक की स्थिति पर चुप है, इसलिये हमें यह देखना है कि दूसरे साहित्य से उसकी भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है या नहीं। फान-यूत्सामिंग नामक संस्कृत चीनी ग्रंथ लि-एन (७१३-७९५ ई०) के द्वारा लिखा गया है*। उसमें किपिन और कपिशा के लिये संस्कृत शब्द कपिशाय

* प्रबोधचंद्र बाग्ची—दि लेक्सीक संस्कृत शिन्वा, भाग १, पृ० ३४५।

दिया हुआ है। बाग्ची के मतानुसार शुद्ध पाठ कपिशाय होना चाहिए*। हमारी समझ में यह बात ठीक नहीं। कपिशाय तथा कपिश एक ही शब्द के दो रूपांतर मालूम होते हैं। इस संबंध में कपिशा या किपिन के बारे में कुछ और जानने की आवश्यकता है।

पहले चीनी शास्त्रविदों का यह विश्वास था कि हान तथा वाइ काल में किपिन से काश्मीर का बोध होता था, लेकिन तांग युग में यह शब्द कपिश के लिये व्यवहार में लाया जाने लगा (कोनौ, ए० इंडिका, जिल्द १४, पृ० ९०-९१)। स्टेन कोनौ ने इस संबंध में सिल्वाँ लेवी के मत की आलोचना की है। प्रो० लेवी के मत का सारांश यह है (ज० ए० जि० ६, भाग ६, पृ० ३७१ और आगे) —उन्होंने किपिन शब्द को संस्कृत कपिर से निकला माना है तथा इसकी तुलना टाल्मी (७, १, ४२) के कस्पेइरिया या कस्पेरयि ऑइ से की है, जो उनकी समझ में काश्मीर है। सिल्वाँ लेवी ने प्रो० कोनौ की यह बात ठीक नहीं समझी कि किपिन दो भिन्न भिन्न स्थानों का परिचायक था। उनकी समझ में किपिन और काफिरिस्तान एक ही हैं। यदि लेवी की बात ठीक है तो संभव है कि किपिन शब्द का संबंध कार्पासिक से रहा हो। हमारे साहित्य में काश्मीर एक स्वतंत्र देश है, अतः किपिर या कार्पासिक शायद काफिरिस्तान का पुराना नाम हो।

दूसरी मार्के की बात जो लेवी ने (ज० ए० २, १९२३) बताई है वह है काश्मीर और किपिन की समानता। भाषा-शास्त्र के सिद्धांतों को लेकर, जिनका वर्णन इस लेख में नहीं हो सकता, उन्होंने कपिश और कंबोज एक ही नाम के रूपांतर माने हैं। प्लिनी के प्रतिलिपिकार सोलिनस ने कपिश की हिज्जे कफुस लिखी है (कनिंघम पृ० २२) जिसको डेल्फीन संपादकों ने कपिस्स कहकर शुद्ध कर दिया है। लेवी के मत के अनुसार कफुस और कपिस्स एक ही शब्द के रूपांतर हैं। अगर कफुस कपिश के लिये व्यवहृत है तो इसकी उत्पत्ति कर्पास से कही जा सकती है। लेवी के इस सिद्धांत के संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि यदि कपिश और कफुस एक ही

---

* प्रबोधचंद्र बाग्ची—दि लेक्सीक संस्कृत शिन्वा, भाग १, पृ० १४७।

शब्द से हैं तो काफिरिस्तान के प्राथमिक 'काफ' तथा कामा नदी के नाम में काम इत्यादि भी इन दोनों के निकट संबंध की स्थापना के परिचायक हैं। यह भी जानने योग्य बात है कि काम देश का नाम पश्तो में कमोज है (राबर्ट्सन, दि काफिर्स ऑव् हिंदुकुश, पृ० २१)।

लेवी के मतानुसार यह सिद्ध है कि कपिश-कंबोज एक ही शब्द के रूप हैं। इनके अलावा 'कार्पासिक' शब्द भी शायद इन्हीं देशों का परिचायक था और कार्पासिक रूप शायद ऐसे प्राचीन रूप का परिचायक हो जिसका पता हमें अब नहीं। महाभारत से दूसरी बात का पता चलता है कि चाहे काफिरिस्तान कंबोजगण का एक हिस्सा रहा हो लेकिन काफिरिस्तान के लिये कार्पासिक शब्द लाया गया है, जो उसकी स्पष्ट भौगोलिक स्थिति का द्योतक है। बाद में कंबोज और कपिश में भी कोई फर्क नहीं रह गया।

काफिर देश से युधिष्ठर को जो भेंटें आईं वे उस देश के अनुकूल थीं (सभा० ४७, ७)। काफिरों को यहाँ शूद्र कहा गया है जो अपने साथ काफिरिस्तान की ३००० सुंदर दासियों को, जिनका रंग ताँबे की तरह दमकता हुआ तथा जिनके घने केश लहलहाते थे, लाए। दासियों के साथ ही वे बकरों के चमड़े तथा मृगचर्म भी लाए। इसमें संदेह नहीं कि काफिर अपने साथ दासियाँ लाए। हाल ही तक उनमें यह रीति प्रचलित थी कि उनके देश की स्त्रियाँ पशुओं की तरह बाजारों में बेची जाती थीं।

कापिशायिनी सुरा (पा० ४, २, ९९) कपिश देश के प्रतीक-स्वरूप थी। अभी हाल तक काफिरिस्तान में अंगूरी शराब बनाई जाती थी। इसे मशकों में भर देते थे और कुछ दिनों के बाद उसकी साफ और नशीली शराब बन जाती थी (रॉबर्टसन, वही, पृ० ५५८-५९)।

चित्रक—(सभा०, ४६-२१) अट्ठसालिनी (पृ० ३५०) तथा विशुद्धिमग्ग (पृ० २९९) में चित्तल नामक एक पर्वत है। इसकी पहचान आधुनिक चितराल से की जा सकती है।

कुकुर—(सभा, ४६।२१; ४८।१४-१५)। सभापर्व (४८।१४) में कुकुर अंबष्ठ तार्क्ष्य, वक्र-पा तथा पह्लवों के साथ मिलते हैं। कुकुरों का गण

बहुत प्राचीन है। वे वृष्णियों के एक अंग थे। मेगस्थनीज (एंश्यंट इंडिया, पृ० ७९) ने कुकुरों का एक विचित्र वर्णन दिया है। इस वर्णन में कुकुरों को पर्वतवासी कहा है, और यह भी कि उनके सिर कुत्तों के होते थे, तथा वे जंगली समूर पहनते थे; कुत्तों की तरह भूकते थे तथा शिकार पर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। यह तो साफ ही है कि कुकुर शब्द का अर्थ कुत्ता होता है। उसके अर्थ को लेकर कुकुरों को कुत्ते का रूप दिया गया है। वासिष्ठीपुत्र पुळुमायि के अभिलेख में भी (नासिक-गुफालेख सं० २, आ० स० वें० इं०, भा० ४, पृ० १०८-९) उनका उल्लेख है, जहाँ उनकी स्थिति अपरांतों के बगल में है।

यह तो ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन कुकुरों के आधुनिक वंशज कौन हैं, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि आधुनिक पंजाब की खोखर या खोखुर जाति से उनका घनिष्ठ संबंध रहा हो। खोखर झेलम तथा चिनाब की घाटियों में और झंग तथा शाहपुर जिले में पाए जाते हैं। थोड़ी संख्या में खोखर निचले सिंध तथा सतलज और झेलम-सतलज के पहाड़ी हिस्सों में भी पाए जाते हैं। गुजरात तथा स्यालकोट के खोखरों में यह अनुश्रुति है कि वे पहले घड़खराना में बसे थे और तैमूर के आक्रमण के बाद वहाँ से हटे। अकबर के समय वे होशियारपुर की दसूय तहसील में बसे थे। ५० गाँवों के समूह को वे खोखरैन कहते हैं। ३ को छोड़कर ये सब गाँव कपूरथला रियासत में हैं (रोज, वही, जिल्द २, पृ० ५३९)। खोखरों की उत्पत्ति के बारे में ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। झेलम जिले में वे राजपूतों को अपना पुरखा मानते हैं। भरत और जसरथ नाम के दो राजपूतों से अपना उद्गम मानते हैं (वही, पृ० ५३९, ५४०)। कुछ खोखर अपना संबंध ईरानी बादशाहों से बतलाते हैं (वही, पृ० ५४१-४३)। दूसरी श० ई० पू० में उनका स्थान कौन था यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता, लेकिन अगर उनका और वृष्णियों का परंपरागत संबंध ठीक माना जाय तो वह शायद होशियारपुर जिले में है। यह वृष्णियों के एक द्विभाषी सिक्के पर आश्रित है जो होशियारपुर जिले में पाया गया था।

कारस्कर—(सभा० ४६, २१) इनका वर्णन बौधायन धर्मसूत्र (१, २, १४) में भी आता है। बौधायन ने अरट्ट, कारस्कर, पुंड्र, सौवीर,

वंग, कलिंग तथा प्रानून जाने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है। पाणिनि को भी कारस्करों से जानकारी थी (६, १, १५६)—'कारस्करो वृक्षः' से उस वृक्ष का मतलब है जो उस देश में पैदा हो। इनका ठीक ठीक पता नहीं, पर अनुमान हो सकता है कि वह चितरालियों की शाखा रही होगी जो काशगर नदी की घाटी में रहते हैं।

लोहजंघ—(सभा० ४६।२१) इनके स्थान का भी पता अभी ठीक ठीक नहीं चलता। इनकी स्थिति लोह, परम कांबोज तथा ऋषिकों (२४।२४) से भिन्न थी। ये दस मंडलों सहित लोहितों से भी भिन्न हैं जिन्हें अर्जुन ने जीता।

कश्मीर—(सभा० २४।१६) इनका संबंध शायद अफगानिस्तान में काबुल नदी की घाटी में रहनेवालों से हो। रोह शब्द का प्रयोग कुछ अफगानी कबीलों के लिये हुआ है, जिससे आज भी बरेली का जिला रुहेलखंड कहलाता है।

भरुकच्छ—(सभा० ४७।८) भड़ोच के निवासी गंधार के घोड़े लाए। शायद वे इनका व्यापार करते रहे हों।

परिसिंधुमानव—(सभा० ४७।९-१०) इन श्लोकों में सिंधु के पास लासबेला, कलात तथा दक्षिणी बलूचिस्तान की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट है। श्लोकों का भावार्थ यह है कि वैराम, पारद, वंग और कितव, जिनकी जीविका यदा-कदा बरसात पर तथा नदियों पर निर्भर थी और जो समुद्र-स्थित हरे-भरे स्थानों में रहते थे, युधिष्ठिर का उपहार ले गए।

स्टाइन ने कुछ दिन पहले मकरान का जो वर्णन किया है उससे महाभारत का मिलान करने पर पता चलता है कि महाभारत के वर्णन में कितनी समता है (स्टाइन—ऐन आर्क्यालॉजिकल टूर इन गडरोशिया, आ० स० मिमॉयर, ४८)। मकरान और कलात का अधिक भाग रूखे-सूखे पहाड़ी प्रदेश से भरा हुआ है। पहाड़ियाँ पूर्व से पश्चिम को जाती हैं। उसका पश्चिमी अंश अरब समुद्र के पास पास है। इसके किनारे मछुए मछली मारकर किसी तरह अपना कालयापन करते हैं। बहुत-सी सूखी घाटियों में, जिनमें पानी शायद कभी आता हो, कुछ गाँव हैं (वही, पृ० ८)। झलावान तहसील का

मौसम बहुत ही रूखा है तथा कुंओं (करेज) से सिंचाई का काम लिया जाता है। लासबेला में भी वही दशा है। पोराली नदी में थोड़ा-बहुत पानी रहता है। ऐसी भौगोलिक स्थिति में वे जातियाँ, जिनका महाभारतकार ने वर्णन किया है, रहती थीं।

वैरामक—(सभा, ४७।१०) इनका उल्लेख महामायूरी (४८।१; ज० ए० भाग २, १९१५, पृ० ९४) में आता है। इस उल्लेख से सिवा इसके कि वे सिंध के पार रहते थे और कुछ भी पता नहीं लगता। वैरामकों के संबंध में ग्रीक भौगोलिकों से हमें सहायता मिलती है। इसके लिये हमें यह जानने की आवश्यकता है कि सिकंदर के वापसी रास्ते की छानबीन करें। कार्मानिया जाते हुए सिकंदर दक्षिणी बलूचिस्तान से गुजरा और उसने ओरोआइ-ताइ लोगों के देश पर कब्जा कर लिया (एरियन, ऐना० ६।२१-२२)। अरबियो नदी को पार कर सिकंदर ओलोताइ लोगों की राजधानी में पहुँचा जिसका नाम रंबकिआ था। यहाँ उसने बर्बर जातियों को पराजित किया। यह विचारणीय बात है कि विद्वानों ने दो बर्बर जातियों—अरब्बी तथा ओराइताइ लोगों—को सिंध नदी के पश्चिम में रखा है। एरियन (इंडिका २२) के अनुसार अरबियों का प्रदेश भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा के अंत में था। स्ट्राबो (१५।२१) इसे भारतवर्ष का एक भाग मानता है, लेकिन सिवा कर्तियस के (९।१०,३३) जो ओराइताइ को भारतवर्ष में रखता है, ये दोनों उसका नाम भी नहीं लेते। ओराइताई जिनकी राजधानी का नाम रंबकिया था, होल्डिश के अनुसार आधुनिक मकरान के होत थे, जिनका प्रधान नगर तुंप था (बलूचिस्तान गजेटियर भा० ७, पृ० ९४)। अरबों का निवास-स्थान अरबी नदी पर था जिसका आधुनिक नाम पोराली है (कनिंघम, वही पृ० ३४९-५०)। कनिंघम ओराइताइ की व्युत्पत्ति अघोर नदी से करते हैं (वही, ३५३-५४)। अघोर नदी पर के हिंदू तीर्थ रामबाग से पुरानी रंबकिया की तुलना करते हैं। ओराइताइ की पश्चिमी सीमा, निअर्कस के अनुसार (वही, ३५४-५५) मलन के पास थी, जिसकी पहचान कनिंघम ने मलन की खाड़ी से की है। होल्डिश के अनुसार रंबकिया (वही, पृ० १५०, १५१) खैरकोट का पुराना नाम था जिसकी स्थिति लियारी से उत्तर पश्चिम हाला दर्रे के पास है। इन सब मतों से

यह प्रकट होता है कि ओराइताइ बलूचिस्तान की एलासबेला रियासत में पुराली तथा हिंगोल नदियों के बीच में रहते थे।

रंबकिया की स्थिति एक व्यापारिक मार्ग पर थी। कंधार से दक्षिण की ओर होता हुआ एक रास्ता रंबकिया से होकर गुजरता था और पुराली नदी के किनारे होते हुए वह नीचे नीचे पहाड़ियों से होकर हिंदुस्तान में जाता था (वार्मिंग्टन, वही, पृ० २४)।

ऊपर के अवतरणों की जाँच से पता लगता है कि रंबकीय शब्द संस्कृत वैरामक का ग्रीक रूपांतर है। वैरामक का मूल रूप शायद विरामक था। ग्रीक हिज्जे में केवल संस्कृत 'वि' बीच में आ गई। संस्कृत-साहित्य में ओराइताइ केवल अपनी राजधानी के नाम से पाणिनि के 'तद्राज' नियम के अनुसार जाने गए।

पारद—(सभा० ४७।९, ४८।१२)—उपायनपर्व में पारदों का दो बार वर्णन आया है। पहली बार उनकी स्थिति सिंधु नदी के पश्चिम में मानी गई है (सभा०, ४७।९), और दूसरी बार उनका संबंध बाह्लीकों से स्थापित किया गया है (४८।१२)। महामायूरी (९५, २; ज० ए० २, १९१५, पृ० १०३-४) तथा वराहमिहिर (बृह० १४।२१) पारदों को वोकाण तथा रमठों के बीच में रखते हैं। टॉल्मी के पारदेन (६।२१,४) से गिद्रोशिया या बलूचिस्तान के भीतरी भाग का बोध होता है और पारद तथा पारदेन एक ही हैं। अब बलूचिस्तान से पारदों का सब चिह्न मिट चुका है। केवल एक चिह्न बाकी है, जिससे उनका मकरान में होना साबित है। पंजगूर के नखलिस्तान में स्टाइन को परदानदम नाम का पुराना स्थान मिला (आर्के० टूर इन गद्रोशिया, पृ० ४५) जिससे यह प्रकट होता है कि पारद कभी वहाँ रहे होंगे।

जहाँ पारद शब्द बाल्हीकों के संग आया है (सभा० ४८, १२) वहाँ शायद वह पार्थ लोगों का बोधक है। पारद या फिरंद पार्थियन पहले कैस्पियन समुद्र के दक्षिण-पूर्व में रहते थे; बाद में उन्होंने खुरासान फतह किया (हर्ज़फील्ड, आर्के० हिस्ट्री ऑव् ईरान, पृ० ५३)। अगर हम मान लें कि पारद और पार्थियन एक ही हैं तो पारदों की बलूचिस्तान में स्थिति इस बात से

प्रमाणित हो जाती है कि यह प्रदेश बहुत समय तक दारा (५२२-४८६ ई० पू०) तथा क्षय् (४८६-४६५ ई० पू०) के ईरानी साम्राज्य में सम्मिलित रहा।

वंग—(४७।१०) वंग के पाठांतर तुंग और आभीर भी दिए हैं। देखते ही यह विदित होता है कि 'वंग' पाठ गलत है, और शुद्ध पाठ आभीर होना चाहिए। इसका कारण यह है कि आभीर पहाड़ी इलाकों में रहते और मछलियों पर जीवन निर्वाह करते थे (सभा० २९।९)। लेकिन विचार करने पर वंग शुद्ध जाति प्रतीत होती है। ७वीं शताब्दी में ह्वेंत्सांग (वाटर्स, २, पृ० २५७-५८) ने मकरान में लंकीलो देश की चर्चा की है जो जूलियन के अनुसार संस्कृत लंगल का रूपांतर मात्र है। ह्वेंत्सांग के अनुसार इनका देश रत्नों के लिये प्रसिद्ध था। महाभारत के अनुसार (४७।१०) यहाँ के लोग युधिष्ठिर को रत्न ले गए थे। आधुनिक बलोचिस्तान में रत्न की खानों का पता अभी तक नहीं चला। मकरान के मेड़ों में एक उपजाति, जिसकी नस्ल का पता नहीं, लांग कहलाती है (बलू० गजे०, जि० ७, १०६)। लांग और वंग में आद्यक्षर का बदलना मुंडा-ख्मेर भाषाओं के अनुसार शुद्ध है। जिस प्रकार पूर्वी भारत में अंग और वंग के आद्यक्षर बदलते हैं उसी प्रकार भारतवर्ष के सुदूर पश्चिम में भी वही क्रिया जारी थी। इससे इस बात का अंदाजा किया जा सकता है कि किसी समय बलूचिस्तान में भी आग्नेय भाषा बोली जाती थी।

कितव—(सभा०, ४७।१०) कितव बलूचिस्तान के एक खास लोगों में थे और अगर इनकी केजों से पहचान ठीक है तो उनकी महत्ता इस बात से प्रकट होती है कि मध्यकाल में पूरा मकरान उनके नाम से केज मकरान संबोधित हुआ। मोकलर (ज० ए० सो० बं०, १८९५, पृ० ३०-३६) ने बहुत से प्रमाण अरब और फारसी लेखकों से लेकर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि एक जाति जो कुफ्स या कुफीस कहलाती है वह किरमान के दक्षिण पहाड़ों में रहती थी। इस जाति की पहचान उन्होंने एक बर्बर कबीले से की है, जिसका नाम कुफंस है। इस बात का अभी निश्चय करना बाकी है कि कोफिश, कोफिच, कुस, कोच, कुई, केच, कीच, कीस, कोज, केश, कस और कुस, जिनका नाम बिलधूरी, तबारी और इब्नहौकल में आया है वे एक ही हैं

या भिन्न भिन्न। इस सूची में हम महाभारत के कितव को भी जोड़ सकते हैं। कितव या कैतव्य प्रायः उलूकों के साथ महाभारत (आदि०, १७७,२०; उद्योग, ५६,२१) में रखे गए हैं। उलूक और कुलूत एक ही थे और इन्हीं के नाम से कुलू की घाटी प्रसिद्ध है। उलूक तथा कुलूत में भी आद्यक्षर बदलने की प्रथा का आभास मिलता है। अगर कुलूत की पहचान ठीक है तो कितव आधुनिक सुकेत के रहनेवाले होंगे। मकरान के कितवों से इनका संबंध कहना कठिन है। शायद वे दोनों एक ही नस्ल के रहे हों।

जो उपहार वे युधिष्ठिर को लाए (४१,१०-११) वे उनके देश के अनुरूप ही थे। इन वस्तुओं में बकरे, भेड़, गाय तथा सुअर, ऊँट तथा गधे, फलों की शराब तथा बहुत से रत्नों का उल्लेख है। अच्छी नस्ल के ऊँट, खच्चर, भेड़ तथा बकरियाँ आज दिन भी उनके प्रदेश में पाई जाती हैं। अच्छी नस्ल के ऊँटों को पैदा करना बलूचों को बहुत प्रिय है। दश्त के ऊँट तेज रफ्तार के लिये अच्छे हैं (बलू० गजे० ७, १८१-८२)। बलूचिस्तान के सबसे अच्छे बहुमूल्य ऊँट खारान में मिलते हैं (वही, जिल्द ७, पृ० ११६)। युधिष्ठिर के दर्बार में जो शराब आई वह फलों से बनाई गई थी, शायद खजूर से। आज दिन भी पंजगूर के अंगूर मशहूर हैं (वही, ७, पृ० १६५)। उपायन के शाल तथा कंबल शायद आधुनिक नम्दे थे जिनके लिये आज दिन भी खारान मशहूर है (वही, जि० ७, पृ० ११६)।

प्राग्ज्योतिष—(सभा० ४७।१२-१४)। महाभारत के कुछ अवतरणों में प्राग्ज्योतिष म्लेच्छ राज्य कहा गया है (४७,१२)। इसके राजा भगदत्त का नाम आदर के साथ लिया जाता है और इसके राज्य की स्थिति (महा० २३।१८-१९) पूर्व-उत्तर में की गई है, पर मार्कंडेय पुराण (५७,४४) के अनुसार यह राज्य पूर्व में भी कहा जाता है। इस राज्य में बहुत से पहाड़ भी रहे होंगे, क्योंकि स्त्रीपर्व (२३,६४४) में इसे शैलालय कहा है। भगदत्त की सेना में (२३,१९) किरात, चीन तथा समुद्र के किनारे रहनेवाली जातियों के लोग थे। प्राचीन काल में प्राग्ज्योतिष का राज्य आसाम तथा उत्तरी बंगाल के कुछ भाग में रहा होगा।

भगदत्त ने युधिष्ठिर को तेज घोड़े (४७,१३) तथा अश्मसार के बने हुए पात्र (४७,१४) उपहार में भेजे। अश्मसार शायद आधुनिक जमुनिया रहा। जमुनिया अधिकतर भारत में लंका से आती है पर कभी कभी नदियों के कंकड़ों में भी यह पाई जाती है। एक दूसरा पक्ष भी इस संबंध में हो सकता है। शायद अश्मसार 'संगे-यशप्' का भी द्योतक हो। यशप् को संस्कृत तथा पाली-प्राकृत में मसारगर्भ, मसारगल्ल, मुसारगर्भ तथा मुसारगल्ल नामों से पुकारते थे। आसाम की बगल में बर्मा के यशप् मशहूर हैं। भगदत्त ने हाथीदाँत की मूठोंवाली तलवारें भी भेजीं (शुद्धदन्तत्सरूनसीन्, ४७,१४)।

त्र्यक्ष—(४७।१५) तथा और भी बहुत सी जातियाँ जिनका वर्णन यहाँ मिलता है, उनके ठीक स्थान का पता कठिन है। सभापर्व के अनुसार वे नाना दिशाओं से आईं।

त्र्यक्ष—(४७।१५) त्र्यक्षों के बारे में कुछ पता नहीं। मार्कंडेय पुराण (भा० ओ० रि० इ० पत्रिका जिल्द १७, भाग ४, पृ० ३३७) में त्रिनेत्रों की स्थिति कच्छप के उत्तर-पूरब पैर में की गई है। शायद यह उत्तरी चितराल (तुरीखो) में रहते रहे हों (बिडुल्फ, ट्राइब्स ऑव् हिंदूकुश, पृ० ६३)।

ललाताक्ष—(४७।१५) इसके बारे में कुछ ठीक पता नहीं। क्या इनकी पहचान लदाख से हो सकती है? यह एक इशारा मात्र है। लदाख का तिब्बती नाम मर्युल है, इसी से यह भासित होता है कि शायद लदाख ललाताक्ष का अपभ्रंश हो।

औष्णीश—(४७।१५) इनके साथ 'अननिवास' अर्थात् बेघर विशेषण का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

रोमक—(४७।१५) संपादक ने यहाँ 'बाहुकान्' पाठ लिया है, पर मेरी समझ में रोमक पाठांतर यहाँ ठीक बैठता है। हेमचंद्राचार्य (अभिधान० पृ० ९४१) ने नमक की पहाड़ी का नाम 'रूमा' दिया है और संभवतः पंजाब की नमक की पहाड़ी से उसकी पहचान हो सकती है। साल्टरेंज का नाम प्लिनी (२९।३९) ने ओरोमेनस दिया है। विल्सन के अनुसार रोमा साँभर झील का नाम था। इस संबंध में यह भी मार्के की बात है कि बाल्टिस्तान के शिन अपने को रोम कहते हैं (बिडुल्फ, वही, पृ० ४७)

एकपाद—(सभा०, ४७।१६) इनके संबंध में भी बहुत कम जानकारी है। दिग्विजयपर्व (२८,४७) में दक्षिण की चढ़ाई में एकपादों का वर्णन ताम्रक द्वीप और रामक पर्वत के बाद आया है। ताम्रद्वीप 'पंचदंडछत्रप्रबंध' नामक प्रबंध (ज० ए० १९२३,५१) के अनुसार खंभात में एक जगह थी; जिन नगरों को सहदेव ने एकपादों के बाद जीता, उनका नाम शूर्पारक (सुपारा) तथा संजयंती (आधु० संजान) था। इससे प्रकट होता है कि एकपादों का निवासस्थान गुजरात, कच्छ और काठियावाड़ था। उन्हें महाभारत (२८, ४७) में वनवासी कहा गया है। इससे पता लगता है कि वे शायद आधुनिक भीलों के वंशज थे। मेगास्थनीज (फ्रैगमेंट २९; स्ट्रैबो १५, ५) ने उनके विषय में एक कथा उद्धृत की है। भारतीय दार्शनिकों ने उसे बताया था कि ओकुपेद लोग घोड़े से भी तेज चलते थे। संस्कृत एकपाद और ग्रीक ओकुपेद के माने एक ही हैं—एक पैरवाले। इससे यह न समझना चाहिए कि एकपाद काल्पनिक थे। इससे केवल यही माने निकलते हैं कि वे तेज चल सकते थे। ऊपर लिखित जातियों ने युधिष्ठिर को सोना-चाँदी भेंट की (४७।१६)। एकपादों ने अनेक वर्णवाले, वन से पकड़े हुए, तेज घोड़ों को भेंट किया (४७।१८)। यदि एकपादों का निवासस्थान कच्छ था, तो वहाँ आज की तरह ही तेज घोड़े पैदा होते थे।

चीन, हूण, शक तथा ओड्रों का नाम (४७।१९) एक क्रम से महाभारत में आया है। उनके संबंध में जो कुछ हमें ज्ञात है उसका विवरण नीचे दिया जाता है।—

चीन—(४७।१९) भारतीय साहित्य में चीन एक नस्ल का बोधक था। खास चीन के लिये उसका व्यवहार सभापर्व में हुआ है। चीन के लोग आसाम के भगदत्त की फौज में भी थे (२३।१९)। यहाँ शायद चीन से मतलब उपरले बर्मा के चिन लोगों से हो।

हूण—(४७।१९) इन हूणों का गुप्तकाल के हूणों से कोई संबंध नहीं; इनकी पहचान ह्यूंग्नू से की जा सकती है, जो मंगोलिया में रहते थे और जिन्होंने यू-ची को नान्-स्यान् की तलभूमि से निकाल बाहर किया था।

शक—(४७।१९), आरण्यपर्व (१८६, २९-३०) में शकों का उल्लेख आंध्र, पुलिंद, यवन, कंबोज, और्णिक तथा शूद्रों के साथ किया गया है। इसी पर्व में दूसरी जगह (४८।२०) इनका उल्लेख पल्हव, दरद, यवन तथा किरातों के साथ किया गया है। उद्योगपर्व (४।१५) में इनका साथ पल्हव, दरद, ऋषिक तथा पश्चिम अनूपों के साथ किया गया है। शकों के विषय में पहले कहा जा चुका है।

ओड्र—(४७।१९) इनका देश प्राचीन स्वात (स्टाइन—ऐन आर्क० टूर इन स्वात, पृ० ४७) में माना गया है। स्टाइन ने एक प्राचीन किले का पता उत्तरी स्वात में लगाया जो ऊडे ग्राम के ठीक ऊपर था। स्टाइन के मतानुसार ऊडे ग्राम ही सिकंदर के ऐतिहासिकों का ओरा था (एरियन, ४, २७)। इस संबंध में अपने मत की पुष्टि के लिये स्टाइन ने बहुत से प्रमाण दिए हैं (स्टाइन, वही, पृ० ४०)। महाभारत के ओड्र तथा ग्रीकों के ओरा का साम्य ठीक ठीक बैठ जाता है। पंजाब में अब भी ओड़ जाति के लोग हैं; वे शायद प्राचीन काल में स्वात से आए हों। वे फिरंदर जाति के हैं और मिट्टी की खुदाई के काम में प्रवीण होते हैं। एक विचित्र बात यह है कि वे एक ऊनी कपड़ा अवश्य पहनते हैं (इबेट्सन, कास्ट्स एंड ट्राइब्स इन इंडिया, पृ० १०८)। यह ऊनी कपड़ा शायद एक ठंडे मुल्क की रहन-सहन का सूचक है।

वृष्णि—(४७।१६) प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार वृष्णियों का स्थान काठियावाड़ के पास होना चाहिए। पर उपायनपर्व में इनका उल्लेख हारहूर और हैमवतों के साथ किया गया है। यह जानने योग्य है कि राजन्य वृष्णि का एक ही सिक्का कनिंघम द्वारा (काइंस—एंश्यंट इं० फलक ४, १५) प्रकाशित किया गया था। यह सिक्का अपने ढंग का एक ही है। उसमें ब्राह्मी में तथा ऊपर खरोष्ट्री में लेख है, जो बर्नी के अनुसार (ज० रॉ० ए० सो० १९००, ४१६) इस पाठवाला है—

ब्राह्मी—वृष्णि [-रा] जज्ञा्यागणस्य भ्रतारस्य; तथा खरोष्ट्री में वृष्णि रजाराण [ग] [-] भ्र...। एलन का पाठ (एंश्यंट इं० का०, पृ० ११४-१५) है—वृष्णिराजन्यो गणस्य भ्रतरस्य (वृष्णि राजन्यगण के त्राता)। इसका समय एलन के अनुसार पहली श० ई० पू० का है। यह सिक्का शायद

उत्तर पंजाब में मिला था। एक ही सिक्के के बल पर यह कहना कठिन है कि वृष्णि राज्य की स्थिति कहाँ थी। यह तो विदित है कि कुकुर अंधक-वृष्णि-संघ के अंग थे। यदि खोखरैन ही प्राचीन काल के कुकुर थे, तो वृष्णि भी शायद उन्हीं के आसपास रहे होंगे। इस संबंध में यह मार्के की बात है कि वैश्यों में एक जाति बारहसेनी नाम की है। लौकिक व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द बारहसेन या बारह सेनाओं से निकला है। यह शब्द युक्त प्रांत के पश्चिमी जिलों में पाया जाता है। क्रुक का कहना है कि इनका प्राचीन स्थान अगरोहा है (दि ट्राइब्स एंड कास्ट्स, जि० १, पृ० १५७)। पंजाब में भी ये पाए गए हैं। एक अजीब सी बात है कि रोज ने (वही, जिल्द २, पृ० १६) इन्हें चमारों से निकला हुआ माना है। इसके प्रमाण में उन्होंने कहा है कि बारहसेनियों के विवाह में जो मुकुट पहना जाता है, उसमें एक चमड़े का टुकड़ा भी लगा रहता है। बारहसेनियों में अपने को वार्ष्णेय कहने की प्रथा अब चल गई है। यह कब से चली, यह ठीक से नहीं कहा जा सकता। आजकल के बारहसेनी लेन-देन का काम करते हैं, पर इससे उनकी प्राचीनता में कोई संदेह नहीं होना चाहिए। जायसवाल का कहना है कि जब भारतीय गणतंत्र राज्यों का अस्तित्व नष्ट होने लगा, तब उन गणों ने व्यापार को अपनाया और उसमें वे खूब बढ़े (हिंदू पालिटी भाग १, पृ० ५९)।

हारहूण—(४७।१९; अरण्य०, ४८, २१; शांति० ६५, २४३०)। हारहूणों की स्थिति पश्चिम में बताई गई है। हारहूणों का पाठांतर हारहूर भी दिया है, जो ठीक है। अर्थशास्त्र (पृ० १३३) में हारहूरक अंगूर की शराब अच्छी कही गई है। हेमचंद्र (अभिधान०, पृ० ११५५) ने अंगूर के नामों में हारहूरा भी कहा है। दिग्विजय पर्व (सभा० २९।११) में हारहूर पश्चिम में रहनेवाले कहे गए हैं। रमठों से उनका संबंध कहा गया है। वराह-मिहिर (बृह०, १४, ३३) हारहूरों को सिंधु-सौवीर तथा मद्रों के बगल-बगल रखते हैं। रमठ संस्कृत में हींग को भी कहते हैं, अतः वहाँ की पैदावार से उस देश का नाम हो गया। हींग दक्षिण अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और बुखारा में होती है, अतः रमठ भी यहीं रहा होगा। लेवी के अनुसार रमठ देश गजनी और वखान के बीच रहा होगा (ज० ए० १९१८, १२६)। हुएन्सांग के

कथनानुसार हींग हेलमंड की घाटी की एक खास पैदावार थी (वाटर्स, भाग २, पृ० २६४)। हेलमंड नदी सीपूत या प्राचीन अराखोशिया के बीच से बहती है, पर यह प्रदेश रमठ नहीं हो सकता, क्योंकि अराखोशिया का प्राचीन नाम जागुड था, जिसका वर्णन रमठ के साथ महाभारत (अरण्य०, ४८, २१) में भी आया है। इसलिये रमठ प्रदेश की पहचान हम कलात रियासत के खरान जिले से कर सकते हैं। यहाँ हींग काफी तादाद में पैदा होती है और इस जिले का लगाव प्राचीन अरिया (हिरात) तथा अराखोशिया (कंधार) से था। अगर यह पहचान सही है तो हारहूर की पहचान हिरात से हो सकती है, जहाँ के अंगूर आज दिन भी प्रसिद्ध हैं।

हैमवत—(सभा०, ४७।१९) बौद्ध साहित्य में हैमवत प्रदेश का काफी नाम है। मज्झिम ने 'हिमवंत पदेस' में बौद्ध धर्म फैलाया (महावंश, अ० १४)। हिमवंत प्रदेश को कोई तिब्बत में मानते हैं। फर्ग्युसन इसे नेपाल में रखते हैं। शासनवंश में (पृ० १३) इसे चीन-रट्ठ में कहा गया है। साँची तथा सोनारी के स्तूपों से द्वि० श० ई० पू० की चिह्न-पेटिकाएँ मिली हैं; उनके अभिलेख कासपगोत का वर्णन करते हैं, जो सब हैमवत प्रदेश का गुरु कहा गया है (साँची, जिल्द १, पृ० २९२)। ग्रीक साहित्य में एमूदोस की एक चोटी का नाम इमावुस कहा गया है (मैकक्रिंडि० एं० इं० पृ० १३१-३२)। इमावसी संस्कृत हिमवत् का रूप जान पड़ता है। इस नाम का प्रयोग ग्रीकों ने पहले हिंदूकुश और हिमालय के लिये किया, पर बाद में इसका प्रयोग बोलोर पर्वत शृंखला के लिये हुआ। यह पर्वत-शृंखला चीन और तुर्किस्तान से भारतवर्ष को अलग करती है।

उपर्युक्त जातियों के प्रतिनिधि अपने देश की कला-कौशल की सामग्री युधिष्ठिर को भेंट करने को लाए। उसमें १० हजार काली गर्दनवाले खच्चर थे (कृष्णग्रीवान्महाकायान्), जो एक दिन में १०० कोस जा सकते थे। प्राचीन काल में खच्चर हेय दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। भरत की बिदाई के समय उनके मामा ने खच्चर भेंट किए थे (रामा० अयोध्या०, बंबई संस्क०, ७०, २३)। भेंटों की सूची में दूसरी वस्तु वाह्लीक तथा चीन के वस्त्र हैं (सभा० ४७, २२)। ये वस्त्र ठीक नाप के, अच्छे रंगों वाले और मुलायम थे (प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं)।

इनमें ऊन के बने वस्त्र, रंकु बकरों के रोएँ से बने वस्त्र (औणं) तथा पाटांबर थे। यहाँ रांकव शब्द की कुछ व्याख्या कर देना आवश्यक है। कोशों में रंकु को एक मृग-विशेष कहा है। लेकिन इसकी पहचान पामीर के रंकु नाम के बकरे से है। इसका पश्म बहुत मुलायम है (वुड, ए जर्नी टु दि सोर्स ऑव् ऑक्सस, पृ० ५७)। रंकु के पश्म से कीमती नम्दे भी तैयार किए जाते थे (अरण्य० २२५,९)। इस युग में भारतीय चीनी सिल्क से भी अभिज्ञ हो चले थे। इस प्राचीन काल में चीन से सिल्क आने में हमें कोई आश्चर्य न होना चाहिए। प्राचीन सिल्क के रास्ते पर चीन के पास एक वाशटावर की खुदाइ उस समय स्टाइन ने की है। उसमें चीनी सिल्क का एक टुकड़ा भी मिला है। उसमें ब्राह्मी में मिला हुआ एक व्यापारिक का लेख भी प्राप्त हुआ है, जिससे पता चलता है कि भारतवर्ष के व्यापारी पहली श० में भी सिल्क खरीदने चीन जाते थे (स्टाइन, एशिया मेजर, १९२३, पृ० ३६७-७२)।

भेट की सूची में तीसरी श्रेणी में नम्दे (कुट्टीकृत—सभा० २७।२३), हजारों कमल के रंगवाले ऊनी वस्त्र तथा बहुत से मुलायम सिल्क और ऊन के बने हुए वस्त्र और मेमनों की खालें हैं, जिनके लिये अफगानिस्तान आज भी मशहूर है। कमलाभ से शायद ऊपरले स्वात के बने हुए कंबल अभिप्रेत हैं। महावणिज जातक (जिल्द ४, पृ० ३५२, पं० १५) में उड्डीयान के कंबल की तारीफ की गई है। आज दिन भी तोरवा में काफी सुंदर कंबल बनते हैं (स्टाइन, ऑन अलेक्सेंडर्स ट्रैक्ट टु इंडस, ८९)। सूची के चौथे वर्ग में अपरांत के बने हुए नाना अस्त्रों का भी उल्लेख है (४७,२४)। यहाँ अपरांत से मतलब कोंकण से नहीं है, बल्कि सीमांत-प्रदेश से है, जहाँ के अस्त्र-शस्त्र आज दिन भी प्रसिद्ध हैं। इन शस्त्रों में लंबी तलवारें, छोटे भाले तथा परशु थे। सूची के पाँचवें वर्ग में (४७।२५) बहुत से कीमती रत्नों, शराबों तथा सुगंधित द्रव्यों का वर्णन है। इन वस्तुओं के बारे में विवरण न होने से कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। गंध से शायद कस्तूरी का मतलब हो।

सभापर्व (४७।२६) में शक, तुखार, कंकों तथा लोमश और शृंगी मनुष्यों का क्रम से वर्णन है। इनमें से शकों और तुखारों का वर्णन कर चुके हैं; शेष का नीचे दिया जाता है।

कंक—(४७।२६) इनकी पहचान चीनी इतिहास के कं-गु लोगों से की जा सकती है। ह्यूंग्नू लोगों की कैद से छुटकारा पाकर चांग-कियन ता-युवान प्रदेश में पहुँचा। वहाँ से वह कांकु लोगों के पास पहुँचा (ज० अ० ओ० सो० १९२७, ९४)। कंकु कंकुयाना या सुग्ध (बुखारा) को फर्गाना के उत्तर-पश्चिम में चांग-कियन ने रखा है। उसके अनुसार इस देश के निवासी फिरंग जाति के थे जिनके रीति-रिवाज कंक लोगों से मिलते हैं।

लोमशाः शृंगिणो नराः—(४७।२६) इस अवतरण में किन्हीं काल्पनिक लोगों की ओर इशारा नहीं है। यह भासित होता है कि ये लोग किसी शक कबीले के होंगे जो समूर पहनते रहे होंगे और जिनके शिरोवस्त्र में सींग लगा रहता था।

शक, तुखार और कंकों ने युधिष्ठिर को तेज घोड़े दिए। साहित्य में सैकड़ों ऐसे अवतरण हैं, जिनमें वंक्षु के उत्तर अच्छे घोड़ों के होने का निर्देश है। चीन के बादशाह वूती ने फर्गाना से घोड़े लाने के लिये पहले फर्गाना के लोगों को समझाने-बुझाने की चेष्टा की और बाद को उन घोड़ों को जबर्दस्ती लाने को एक फौज भी भेजी (जे० आर० ओ० एस० १९१७, १११-१३)। बर्न ने भी अपनी बुखारा की यात्रा में तुर्कमान लोगों की तारीफ की है और इस अनुभूति का उल्लेख किया है कि तुर्कमान प्रदेश के घोड़ों की उत्पत्ति रुस्तम के घोड़े रख्श से हुई है (बर्न, ट्रैवल्स इंटू बुखारा, जिल्द २, पृ० २७१-७७)।

पूर्वभारत के राजाओं द्वारा लाई हुई भेंट—(२८-४७; २८-३०)। पहले वर्ग में बहुमूल्य आसन, यान और शय्या हैं जिनमें मणिकांचन और हाथी-दाँत के काम किए हुए हैं। दूसरे वर्ग में पूर्व के बने नाराच और अर्ध-नाराच बाण, बहुत से और शस्त्र तथा हाथियों के झूल और बहुत से रत्नों का वर्णन है (४७।३०)। इन भेंटों से पता लगता है कि पूर्वी युक्तप्रांत, बिहार और उड़ीसा में हाथीदाँत की कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी (सभा०, अ० ४८)।

उपायनपर्व (४८) के दूसरे, तीसरे श्लोकों में उन जातियों का वर्णन है जो शैलोदा नदी पर रहती थीं। शैलोदा नदी मेरु और मंदर के बीच में

बहती थी। शैलोदा की पहचान से इन जातियों की भौगोलिक स्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। मत्स्यपुराण (१२०, १९१८) के अनुसार शैलोदा कैलाश के पश्चिम अरुण पर्वत से निकलकर पश्चिमी समुद्र में गिरती है। मार्कंडेय पु० (५५, ३) में शीतोदा जो शायद शैलोदा का अपपाठ है, मेरु पर्वत से निकली दिखाई गई है। मेरु तथा मंदर की पहचान अभी ठीक ठीक नहीं हो सकी। पार्जिटर ने पश्चिमी तिब्बत में (मार्क पु०, ३५१) शैलोदा नदी को रखा है। इन सब अवतरणों को देखते हुए यह पता चलता है कि शैलोदा उत्तर में शायद कर्राकुर्रम और मुस्ताक के पास कहीं रही हो। कर्राकुर्रम में जहाँ से सहायक श्योक नदी दक्षिण की तरफ निकलती है, उसी के ठीक सामने उत्तर की ओर यारकंद नदी उसी पर्वत के नीचे की ओर बहती है। यारकंद को 'जरफूशाँ' और चीनी में शीतो नदी कहते हैं। यह नदी कर्राकुर्रम के दक्षिणी पद से सटी हुई बहती है और इस पर्वत-शृंखला को कुनलुन से अलग करती है। संभवतः सीतो नदी ही महाभारत की शैलोदा है। यदि यह पहचान ठीक है तो कर्राकुर्रम पर्वत मेरु हो सकता है और कुनलुन पर्वतशृंखला मंदर।

खश—(सभा०, ४८।३) संस्कृत-साहित्य में खशों के बहुत उल्लेख हैं। नेपाल में गोरखे खश कहाते हैं, और इनकी भाषा खश या पर्वतिया कहलाती है। कश्मीर के दक्षिण-पश्चिम के पहाड़ी इलाके में भी खश रहते थे। राजतरंगिणी के बहुत से उद्धरणों से पता लगता है कि कष्टवार के पश्चिम में वितस्ता की घाटी तक खश रहते थे (स्टाइन, राजत०, जिल्द २, पृ० ४३०)। सिल्वाँ लेवी के अनुसार (बो० ई० एफ० ई० ओ०, जिल्द ४, पृ० ५६४) खश किसी जाति-विशेष का नाम नहीं था, बल्कि इस शब्द से उन अर्धसंस्कृत जातियों का बोध होता था जो हिमालय में रहती थीं, और जिन्होंने हिंदू धर्म ग्रहण कर लिया था। पर मध्य एशिया में खश शब्द एक विशेष माने रखता है। यहाँ काशगर के लिये इस शब्द का व्यवहार हुआ है (वही, पृ० ५५७)। उपायनपर्व में खश का विशेषण एकाशन (पाठभेद एकासन) आता है, जिससे पता चलता है कि यह खश एक जगह फिरंदर नहीं बल्कि गाँव में रहनेवाले थे।

ज्यौ—(४८।३) इनके बारे में विशेष पता नहीं, पर ये खशों के पास रहते थे। यह जानने योग्य है कि अलमोड़ा में जोहार नामक तहसील है (अलमोड़ा गजे०, पृ० २५९)। जोहर नाम की व्युत्पत्ति के विषय में पता नहीं। शायद यहाँ प्राचीन ज्यौ लोग आकर रहे हैं, पर यह अनुमान मात्र है।

दीर्घवेणु—(४८।३) लगता है कि ये फिरंदर जाति के लोग थे; इनके संबंध में और कुछ नहीं कहा जा सकता।

पशुप—(४८।३) ये भी फिरंदर जाति के थे, और शायद किरगिज लोगों के पूर्वपुरुष रहे हों।

कुणिंद—(४८।३) महाभारत और दूसरे ग्रंथों से पता चलता है कि कुणिंद बहुत दूर दूर तक फैले हुए थे। हरद्वार के पास तराई प्रदेश में भी (आरण्य० १४१, २५) इनका उल्लेख है। इस प्रदेश का राजा सुबाहु कहा गया है। इसके राज्य में हाथी-घोड़ों तथा बर्बर जातियों की भरमार थी, क्योंकि यहाँ कुणिंदों के साथ किरातों और तंगणों का भी उल्लेख आया है।

भांडारकार इं० द्वारा संपादित पर्वों में संपादकों ने कुणिंद पाठ को ठीक माना है, पर कुलिंद पाठ भी पाठभेदों में दिया है (सभा० २३, १३; ४८, ३; आरण्य० १४१, २५)। दिग्विजयपर्व में एक जगह (२३, १४) कुलिंद और पुलिंद का हेर-फेर भी दिया है। लेवी के अनुसार कुलिंद-पुलिंद एक ही शब्द हैं (जे० ए० १९२१, पृ० ३०)।

कुणिंदों के सिक्के भी मिले हैं (एलन, वही पृ० १०१)। इन सिक्कों पर कुणिंद शब्द आता है। ये सिक्के हमीरपुर, लुधियाना, ज्वालामुखी तथा सहारनपुर जिलों में पाए गए हैं। इनसे पता चलता है कि कुणिंद शिवालिक पर्वत पर जमुना और सतलज तथा व्यास और सतलज के ऊपरले हिस्सों पर स्थित थे।

तंगण—(४८।३) तंगणों का उल्लेख किरातों के साथ सुबाहु के राज्य में आया है (आरण्य० २१, २४, २५)। एक दूसरी जगह इनकी गणना पश्चिम के लोगों में की गई है, तथा इनका संबंध जागुड़, रमठ, स्त्रीराज्य और मुंडों के साथ किया गया है। टाल्मी (७, ११, १२) गंगणोइ राज्य का वर्णन करता है। इसकी स्थिति गंगा के पूर्व से होती हुई उत्तर तक थी, और उस राज्य से सर्बोस नदी बहती थी। सेंट मार्टिन ने गंगणोइ का शुद्ध पाठ तंगनोई

माना है (वही, पृ० ३२७, २८)। इन तंगणों का राज्य रामगंगा नदी से लेकर ऊपरली सरयू तक फैला हुआ था। इस संबंध में एक बात और जानने की है कि तंगण केवल यहीं नहीं बसते थे, बल्कि काश्मीर के पास भी। मध्य एशिया के तुंगण शायद इन्हीं के वंशज हों।

परतंगण—(४८।३) ऐसा जान पड़ता है कि नस्ल के हिसाब से तंगणों का संबंध परतंगणों से रहा हो। एरियन के अनाबोसिस (४, २२) में इनका कुछ वर्णन मिलता है। इसमें परै-तकनाइ (मैकक्रिंडल; इन्वैजन, पृ० ५७) नामक देश का वर्णन है जिसकी स्थिति वंक्षु तथा जकसार्थ के ऊपरले हिस्से में थी। यह बहुत संभव है कि यही महाभारत के परतंगण रहे हों।

पिपीलिक स्वर्ण—(४८।४) खश, ज्यौ, दीर्घवेणु, तंगण और परतंगण लोगों ने युधिष्ठिर को घड़ों में भरकर पिपीलिक स्वर्ण दिया। ग्रीक विद्वानों ने इस पिपीलिक स्वर्ण के बारे में विचित्र कथाएँ कही हैं। हेरोडोटस (३;१०२,१०५) तथा मेगास्थनीज इत्यादि विद्वानों के कथन के अनुसार चिउँटियों द्वारा यह सोना जमीन से खोदा जाता था। बहुत खोज के बाद विद्वानों ने स्थिर किया कि यह सोना तिब्बत की सोने की खानों से निकाला जाता था (इं० एं०, जिल्द ४, २२५-२३२)। वास्तव में ये चींटियाँ नहीं थीं, वरन् समूर पहने हुए खानों में काम करनेवाले तिब्बती मजदूर थे। इस बात की ओर भी इशारा किया गया है कि पिपीलिक स्वर्ण का नाम एक मंगोल जाति (शि रै घोल) तथा चींटी के लिये (शिरगोल) है (डाउकर, दि साग फांडन गोल्ड प्रावेंडेन आ माइसेन, तुंग पाव, नवीं जिल्द, १६०८, पृ० ४५१)। टार्न के अनुसार (पृ० १०७) पिपीलिक स्वर्ण केवल लोक-कथाओं की बात है और इसकी कल्पना केवल सोने के उद्गमस्थान से पाने के लिये की गई थी। वास्तव में यह सोना साइबेरिया से आता था। यह कहना बहुत कठिन है कि यह सोना तिब्बत से या साइबेरिया से आता था, क्योंकि दोनों पक्षों ने अपने मतों की पुष्टि के लिये काफी प्रमाण दिए हैं। महाभारत से भी इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश पड़ता है। युधिष्ठिर को जो सोना दिया गया वह कणों के रूप में था, जिससे पता लगता है कि वह नदियों से बालू धोकर

निकाला गया हो। जो हो, संभवतः खश और दूसरी जातियों के हाथों से गुजरकर सोना भारत में आता था।

खश इत्यादि के अतिरिक्त जंगली जातियाँ अन्य वस्तुएँ चमरी (४८,७) इत्यादि लाईं। आज भी तिब्बत से हिंदुस्तान के बाजारों में चमरी आकर बिकती है। साथ ही साथ वे (४८,५) हिमालय के पुष्पों से जनित ,मधु तथा अंबु पुष्पों से ग्रथित उत्तरकुरु देश (४८,६) की मालाएँ और उत्तर कैलाश की वनस्पतियाँ भी लाए।

महाभारत-काल में उत्तरकुरु कल्पना-क्षेत्र की एक वस्तु रह गया है पर वैदिक साहित्य में ऐसी बात नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण (८,१४) में हिमालय के पार उनकी स्थिति मानी गई है। जिम्मर के अनुसार उत्तरकुरु काश्मीर के उत्तर में रहा होगा (वैदिक इं०, जिल्द १, पृ० ८४)।

किरात—(सभा० । ४८,८) किरात की व्युत्पत्ति किराति और किरांति शब्द से है, जिसके माने किरांत देश के रहनेवाले हैं। किरांत देश नेपाल में दूद कोसी और कर्की नदियों के बीच का प्रदेश है। शायद इन्हीं किरातों को भीम ने अपने पूर्व दिग्विजय में हराया था। उपायनपर्व (४८,८) में किरातों के देश का अच्छा वर्णन है। इसके अनुसार किरात हिमालय के पूर्वी ढाल पर तथा समुद्र के किनारे वारिश देश के पास रहते थे। इससे यह पता चलता है कि वे नेपाल में तथा बंगाल और आसाम में रहते थे। वारिश की पहचान आधुनिक बारिसाल सब-डिवीजन से हो सकती है। किरात लोहित तथा ब्रह्मपुत्र के किनारों पर भी रहते थे। तिब्बत बर्मी जाति के लोगों का इससे सुंदर भौगोलिक विवरण और नहीं मिल सकता।

किरात चमड़े पहनते थे, तथा जंगल के फल-मूल पर गुजारा करते थे (सभा० ४८,८)। वे अपने साथ स्वदेश की उपज युधिष्ठिर की भेंट को लाए, जिसमें चमड़े, रत्न, सुवर्ण, चंदन, अगरु, कालीर इत्यादि सुगंधित वस्तुएँ थीं (४८,९)। सुगंधित द्रव्यों के लिये आसाम बहुत दिनों से प्रसिद्ध था। इन वस्तुओं का वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दिया है (देखो मोतीचंद—कास्मेटिक्स इन एंशियेंट इंडिया, जर्नल आफ ओ० आर्ट, १९४०, पृ० ८३-८८)। सोना और रत्न निश्चय बर्मा से आया होगा। इस

प्रदेश को सुवर्णभूमि कहते थे। इन वस्तुओं के अलावा वे अपनी जाति की दासियाँ तथा दूर देश के पशु-पक्षी भी लाए (४८, १०)।

काचव्य—(४८।१२) इसका पाठभेद कावल्य भी दिया है। हमारी समझ में कावल्य पाठ ठीक जान पड़ता है। यह शायद वही जाति थी जिसके नाम से खावक का दर्रा है। यह जाति संभवतः पंजशीर और गोविंध की घाटियों के बीच में रहती थी।

दरद—(४८।१२) प्राचीन दरद से आधुनिक दर्दिस्तान का बोध होता है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में दरद शब्द का व्यवहार किसी खास प्रदेश के लिये हुआ है क्योंकि चितराली, काफिर तथा हुन्जा लोगों के लिये संस्कृत-साहित्य में अलग नाम आया है। दरद शब्द का व्यवहार शायद गिलगिट, गुरेज, स्वात तथा कोहिस्तान वालों के लिये हुआ है (ग्रियर्सन, लिं० स० ऑव् इंडिया, जिल्द ८, भाग २, पृ० ३)।

महाभारत में द्रोणपर्व (१२१, ४८३५-३७, ४८४३-४७) में इन्हें पर्वतवासी बताया है और काश्मीर (वही, ७०,२४३५) तथा कांबोज के बगल में रखा है (सभा० २४,२२)। इनका शस्त्र पत्थर था तथा गुलेलों से इसे फेंकने में ये बड़े दक्ष थे (द्रोण० १२१, ४८४५-४७)। दरदों के कंबोज के सान्निध्य से दोनों देशों के बहुत से रीति-रिवाज एक से हैं।

दार्व—(४८।१२) दार्व देश की पहचान भी जयचंद्र ने चिनाव तथा रावी के बीच में जम्मू और बल्लावर के जिलों से की है (भारतभूमि०, पृ० १०६)।

शूर—(४८।१२) इनकी पहचान मध्यकालीन शूर कबीले से हो सकती है। इनमें सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति शेरशाह शूर हुआ। संभवतः पहले शूर घोरों के देश में रहते थे। वहाँ से निकाले जाने पर वे ऐमाक प्रदेश में फिरंदर की तरह घूमते रहे।

वैयमक—(४८।१२)—इनकी पहचान मध्य अफगानिस्तान के ऐमाक लोगों से की जा सकती है। ऐमाक उपरिश्येन (हिंदूकुश) के प्राचीन विजेताओं की संतानें हैं; उनकी भाषा ईरानी है। ये अच्छे लड़ाके होते हैं तथा इनका व्यवसाय ऊँट पालना है (ये ऊँटेरे हैं)। इनके देश में चाँदी-सोने, माणिक्य तथा

पन्ने की खानें हैं (फेरियर—कैरवान जर्नीज एंड वांडरिंग्स इन पर्शिया, अफगानिस्तान एटस०, पृ० ५१-५३)। ऐमाकों में निम्नलिखित चार कबीले हैं—जमशेदी, हजारा, फीरोजकोही और तैमनी। इनका देश पठार है जिसे सैकड़ों वर्षों से नदियों ने बहुत कुछ काट दिया है (होल्डिश, वही, २१४-१५)।

उदुंबर—(४८।१२) औदुंबरों के सिक्के पाए गए हैं। इनके आधार पर औदुंबरों का देश काँगड़ा जिले का पूर्वी हिस्सा यानी सतलज की घाटी में था (एलन, वही ७०,७)।

पाणिनि (४, २, ५३) के गणपाठ में औदुंबर जालंधरायणों के बगल में रखे गए हैं। मूलसर्वास्तिवादों के जीवक की तक्षशिला से भद्रंकर, उदुंबर, रोहितक तथा मथुरा की यात्रा का उल्लेख है (प्रिजुलस्की, ज० ए० १९२७, पृ० ३)। इससे यह पता चलता है कि औदुंबर की स्थिति उस राजमार्ग पर थी जो शाकल, अग्रोदक, रोहतक से होते हुए तक्षशिला जाता था (वही, १७,१८)। इनकी भौतिक समृद्धि के सूचक इनके सिक्के हैं जो बहुत बड़ी संख्या में पाए गए हैं। इनके देश में कुटंबर कपड़े बनाए जाते थे (मिलिंद पन्ह, चकनर का संस्करण, पृ० २)।

महाभारत में इनके लिये 'दुर्विभागाः' विशेषण आया है (४८,१२)। इस विशेषण का अर्थ विभक्त होता है और यह शाल्वों के संघ का द्योतक मालूम पड़ता है।

वाह्लीक—(४८।१२) इन्हें उत्तर में रहनेवाला कहा गया है। आदिपर्व (१६१।६) में वाह्लीक देश आधुनिक उत्तरी अफगानिस्तान के बल्ख का द्योतक है।

कश्मीर—(४८।१३)।

कुंदमान—(४८।१३) इस देश की पहचान कुद्दापरांत या कुंद्रापरांत से की जा सकती है। कुंदमान देश का आधुनिक नाम कूटहार पर्गना है जो काश्मीर में इस्लामाबाद के पूर्व में है (स्टाइन, राजतरंगिणी, जिल्द २, पृ० ४६६)।

पौरक—(४८।१३) पौरकों का संबंध हंसकायनों से है। इस देश की पहचान चितराल एजेंसी के यासीन प्रदेश से की जा सकती है। यासीन

तथा चितराल के लोगों के पूर्वी पड़ोसी उन्हें पोरे और इस प्रदेश का नाम पोरियाको कहते हैं (बिडुल्फ, वही पृ० ५६)।

हंसकायन—(४८।१३) इनका संबंध यासीन के पौरकों से है। संभवतः हंसकायनों का प्रदेश हुंजा और नगर था।

शिबि—(४८।१३) शिबिपुर का उल्लेख ४८३ ई० के शोरकोट के एक लेख में हुआ है (एपि० इं० १६, ६)। शोरकोट का टीला शायद प्राचीन शिबियों की राजधानी का द्योतक है। शिबि लोगों के सिक्के भी चित्तौर के पास नगरी से पाए गए हैं (आ० स० रि० १९१५-१६, भाग १, पृ० १५)। शिबि देश के ऊनी कपड़े का नाम शिवेय्यक दुस्स था; उसका उल्लेख महावग्ग (८, १, २९) में मिलता है।

त्रिगर्त—(४८।१३) प्राचीन त्रिगर्त रावी तथा सतलज के बीच में जलंधर के आसपास था। आधुनिक काँगड़ा जिला प्राचीन त्रिगर्त का सूचक है।

यौधेय—(४८।१३) यौधेयों के देश की सीमा उनके सिक्कों से निश्चित की जा सकती है। इनसे पता चलता है कि यौधेयों का देश लगभग पूरा पंजाब था (एलन, वही, १५१)।

राजन्य—(४८।१३) राजन्यों के भी दूसरी तथा पहली शताब्दी ई० पू० के सिक्के मिले हैं (एलन ७०।३)। इनके अधिकतर सिक्के होशियारपुर जिले से मिले हैं और राजन्यगण की स्थिति संभवतः वहीं होनी चाहिए।

मद्र—(४८।१३) वैदिक काल में मद्रों का बहुत ऊँचा स्थान था (वैदिक इंडेक्स, जिल्द २, पृ० १०३)। मद्रों की राजधानी शाकल थी (जातक, फॉसबाल ४, पृ० २३० आदि) जो आधुनिक स्यालकोट है। चंद्रवृत्ति के अनुसार (२,४,१०३) मद्र या मद्रक शाल्व संघ के एक अंग थे। प्रिजलस्की ने इन्हें ईरानी नस्ल का माना है (जू० ए० १९२९,११३)। इसकी कुछ पुष्टि महाभारत से भी होती है। द्रोणपर्व (८,३,४) में मद्रवीरों को विचित्र कवच, विचित्र ध्वज-कार्मुक तथा विचित्र आभरण, एवं विचित्र रथयान पर चलते हुए बताया है। उनका वस्त्राभूषण भी उनके स्वदेश के अनुसार था। लगता है कि उनके वस्त्राभूषणों में कुछ ऐसी विचित्रता थी जिसकी ओर महाभारतकार का ध्यान गया।

केकय—(४८।१३) केकयों का संबंध मद्र से था। इनका देश आधुनिक पंजाब के शाहपुर और झेलम जिलों में था। कनिंघम ने इनकी राजधानी गिरिव्रज की पहचान जलालपुर से की है (आ० स० रि०, जि० २, १४)। केकय देश के कुत्ते बहुत मजबूत होते थे (रामा०, अयोध्या०, ७०।२०)।

अंबष्ठ—(४८।१४) इनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण (८।२१) में भी हो गया है। एरियन (६।१५) उन्हें अंबस्तनोई के नाम से संबोधित करता है। ग्रीक आधारों से पता चलता है कि चिनाब के निचले हिस्से पर ये बसे हुए थे (मैकक्रिंडिल, वही, पृ० १५५, नो० २)।

ताक्ष्य—(४८।१४)। ऋग्वेद में (१, ८९, ६; १०, १५८) यह एक दैवी घोड़े का नाम है। इस संबंध में काफी बहस है कि यह असल घोड़ा था या काल्पनिक। महाभारत में ताक्ष्य (१, ५९, ५९) गरुड़ का द्योतक है। अगस्तीया रत्न-परीक्षा (५, ८१ फिनो ले लापि देयर एन दिएन, पेरिस, पृ० १८८) में ताक्ष्य पन्ने का एक नाम है। अभिधानचिंतामणि (१०६४) में हेमचंद्र ने पन्ने को गारुत्मक भी कहा है। गरुड़ तथा पन्ने का यह संबंध उस अनुश्रुति से है जिसके अनुसार गरुड़ ने असुर-बल को मारकर पृथिवी पर फेंका और उसके पित्त से पन्ने की उत्पत्ति हुई (फिनो, वही, पृ० ४३)।

ऊपर के वर्णनों से पता लग जाता है कि ताक्ष्य अश्व, पक्षी, रत्न तथा मनुष्य का बोधक था, पर ताक्ष्य लोग रहते कहाँ थे और वे वास्तविक थे या काल्पनिक, इसका ठीक पता नहीं चलता। ह्वेन्त्सांग (वाटर्स, भाग १) के अनुसार बल्ख और मर्व अलरूद के बीच में तालाकान नाम का प्रदेश था। सेंट मार्टिन के अनुसार तालाकान की पहचान आधुनिक दर्विस्तान से, जो हिरात के रास्ते पर है, की जा सकती है। यहाँ पर पन्ने भी मिलते थे (फेरियर, वही, पृ० ५१-५३)। यहाँ के घोड़े भी मशहूर थे (वही, पृ० ५३)। ताक्ष्य शब्द का संबंध पन्ने और घोड़े से कहा जा चुका है। हो सकता है कि तालाकान ही का प्राचीन नाम ताक्ष्य हो।

वस्त्रपा—(४८।१४) इनका वर्णन पह्लवों के साथ आया है। इनके स्थान के संबंध में अधिक पता नहीं। महाभारत (अरण्य०, ८०।१०८) में

वस्त्रापद का वर्णन है। यहाँ पांडव मलदा, पंचनद देश से होते हुए पहुँचे थे (वही ८०, १०५)। यह वस्त्रापद प्रभासखंड में काठियावाड़ में गिरनार पर्वत के आस-पास कहा गया है (इं० एं०, जिल्द ४,२३८-४४)।

पह्लव—(४८।१४) इनका संबंध वस्त्रपों से स्थापित किया है, और यदि वस्त्रप गिरनार के पास रहते थे तो हमें काठियावाड़ में जूनागढ़ रियासत में एक प्राचीन ईरानी उपनिवेश की खोज करनी होगी। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि अशोक के समय में राजा तुषास्फ, जो एक ईरानी था, काठियावाड़ का शासक था (ए० इं०, जिल्द ८, ४६-४७)। महाक्षत्रप रुद्रदामन् के समय सुविशाख नाम का ईरानी आनर्त तथा सुराष्ट्र का शासक था। प्रो० जार्ल शार्पेंतियर ने यह बात बतलाई है (ज० रा० ए० सो०, १९२८)। स्कंदगुप्त के गिरनार के अभिलेख में जूनागढ़ के शासक पर्णदत्त और चक्रपालित ईरानी थे।

वसाति—(४८।१४) इनका संबंध मौलेयों से था, जिनका स्थान शायद कलात रियासत के झालावन जिले की मूलाघाटी में था। वसाती लोगों की पहचान एरियन की (६, १५) ओस्सादिओइ से की जा सकती है, जो सिकंदर की शरण में उस समय आए जब वह चिनाब और झेलम के संगम पर खेमा डाले पड़ा था। वसातियों की भौगोलिक स्थिति पर काफी बहस हुई है। जैसा वसातियों के विषय में कहा गया है, अगर यह पहचान ठीक है तो वसातियों का देश मूरा दर्रे के उत्तर शिबि प्रदेश में रहा होगा। यह प्रदेश गजनी के साम्राज्य में बहुत दिनों तक था तथा इसका संबंध मुलतान से काफी था। मुलतान के वसाति सिकंदर की शरण में आए। मुलतान के आसपास क्षुद्रक-मालवों का राज्य था और यह कहा जा सकता है कि क्षुद्रक-मालवों के पराजित होने पर वसातियों ने भी अपनी हार मान ली।

मौलेय (४८।१४)—मौलेयों का आदिम स्थान बलूचिस्तान के मूल दर्रे के आस-पास तथा मूल नदी की घाटी में रहा होगा। मूल दर्रा प्राचीन काल में एक बड़ा चलता हुआ रास्ता था (होल्डिश, गेट्स ऑव् इंडिया)।

क्षुद्रक-मालव—(४८।१४) इनका संबंध वसातियों तथा मौलेयों से है। संस्कृत साहित्य में क्षुद्रक-मालव द्वंद्व रूप में आए हैं। महाभाष्य

(४, २, ४५) में इसी अवतरण में पतंजलि ने उपशालि द्वारा दी गई क्षुद्रक-मालवी सेना का वर्णन किया है।

सिकंदर के इतिहासकारों ने क्षुद्रक-मालवों को ओक्षुद्रकाइ तथा मल्लोई नाम से संबोधित किया है। ये बड़े वीर होते थे। मल्लों का देश एरियन के अनुसार असिक्नी और हिरावती के बीच के दोआब में था (इंडिका, ४)। इसका बढ़ाव असिक्नी तथा सिंधु के संगम तक था। इनकी राजधानी मुल्तान के समीप थी।

शौंडिक—(४८।१५) संस्कृत कोषकारों के अनुसार शौंडिक शराब बेचनेवाले थे (अभिधानचिं०)। उनके स्थान का कोई पता नहीं। शायद उनका संबंध पंजाब के सोंधी खत्रियों से रहा हो।

अंग-वंग—(४८-१५) अंग देश बिहार में भागलपुर जिला है। वंग पूर्वी बंगाल का नाम था।

पुंड्र—(४८।१५) इनका संबंध ताम्रलिप्तों से है (सभा० ४८, १७)। पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार पौंड्र देश की पहचान छोटा नागपुर से है (मार्क० पु० ३, २९)। शास्त्री के अनुसार (कनिंघम, ज्यौग्रफी पृ० ७२३-२५) पौंड्र देश मालदा, पूर्णिया, दीनाजपुर, राजशाही के कुछ जिलों से बना था।

शाणवत्य—(४८, १५) इनका संबंध गया लोगों से है। इनकी पहचान आधुनिक संथाल लोगों से है।

गया (४८।१५)—सुप्रसिद्ध है।

कलिंग (४८।१७)—महाभारत (आरण्य० ११४, ४१) में कलिंग देश वैतरणी नदी के पास स्थित कहा गया है। यह नदी उसकी उत्तरी सीमा थी। इससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन कलिंग वैतरणी नदी के दक्षिण का हिस्सा तथा विजिगापट्टम के पास तक समुद्र-तट पर था।

ताम्रलिप्ति—(४८।१७) बहुत प्राचीन काल से ही ताम्रलिप्ति बंगाल की खाड़ी पर था। यहीं से अशोक ने भिक्षुओं को सीलोन भेजा था (महावंश ११, ३८)। इसकी पहचान आधुनिक तामलुक, जो रूपनारायण नदी पर बसा है, से होती है।

बंग, कलिंग, ताम्रलिप्ति तथा पुंड्रों द्वारा भेंट (४८, १७-२०)

दुकूल—(४८।१७) एक प्रकार का बहुत महीन कपड़ा जो दुकूल वृक्ष के रेशों से बनाया जाता था। शायद इसकी पहचान रोमन लेखकों के बॉइसॉस से की जाती है (वार्मिंग्टन, वही, पृ० २१०)।

कौशिक—(४८।१७) इस बात का पता लगता है कि इस काल में बंगाल में सिल्क का व्यापार था। किष्किंधाकांड में कोशकारों के देश का वर्णन आया है (लेवी, जे० ए० १९१८, जनवरी-फरवरी ७३-७४)।

पत्रोर्ण—(४८।१७) संस्कृत में एक वृक्ष-विशेष का नाम है। कोषों में बुने हुए सिल्क के वस्त्रों के लिये इस शब्द का व्यवहार हुआ है।

प्रावर—(४८।१७) प्रावार एक बाह्य वस्त्र या चादर था। ऐसा पता लगता है कि कुछ व्यापारी केवल चादर बेचते थे। साँची के एक अभिलेख में प्रावारिक शब्द आया है (साँची, जिल्द १, पृ० ३१३)। सोमेश्वर के मानसोल्लास (जिल्द २, पृ० ५९, श्लो० ३३) में कई तरह की चादरों का वर्णन आया है, जिससे प्रकट होता है कि ये केवल चादर के व्यापार में प्रवीण थे।

हाथी—(४८।१९-२०) इस संबंध में कई बातें उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि हाथी काम्यक सर से आए। कुछ लोग काम्यक सर की पहचान कामरूप से कर सकते हैं, पर महाभारतकार ने प्राग्ज्योतिष शब्द का व्यवहार किया था, कामरूप का नहीं। महाभारत (३, ८४, १६) में काम्यक वन का वर्णन है, जहाँ युधिष्ठिर यात्रा में गए थे। पहले युधिष्ठिर नागपुर (३, ९०, २३) गए और काम्यक वन में तीन दिन रहे (९०, १४)। इसके बाद पांडवों की यात्रा के बारे में और कोई वर्णन नहीं। उनकी दूसरी यात्रा फिर नैमिषारण्य से शुरू होती है (९०, २३)। इस यात्रा में नागपुर की पहचान छोटा नागपुर से हो सकती है, और काम्यक वन इसी के आसपास कोई जंगल रहा होगा। छोटा नागपुर में काम्यक ऐसी कोई बड़ी झील नहीं, पर छोटा नागपुर का प्रदेश उड़ीसा तक बढ़ा होगा, और इसलिये हम काम्यक-सर की पहचान चिलका से कर सकते हैं। यहाँ हाथी काफी तादाद में मिलते थे।

गंधर्व—(४८।२३) सुरेंद्र शास्त्री ने गंधर्वों का देश (कनिंघम, वही, पृ० ७३) रामायण के एक अवतरण के आधार पर (उत्तरकांड ११३, १०-११) सिंधु के दोनों कूलों पर माना है।

शूकर—(४८।२४) यह नाम संस्कृत साहित्य में बहुत कम आता है। चीनी भाषा के चंद्रगर्भ सूत्र में स्वाती नक्षत्र के प्रभाव में जो राज्य दिए गए हैं, उनमें एक का नाम शू-किया-लो है जिसका संस्कृत रूप शूकर है (सिल्वाँ लेवी, बी०, ई० एफ० ई० ओ० ५, पृ० २५०)। संस्कृत में शूकर शब्द के अर्थ हैं—ऐसा प्राणी जो घुरघुराता है। इसी लिये सुअर को शूकर कहते हैं। इनकी पहचान शबरों से की जाती है जो उड़ीसा, छोटा नागपुर, पश्चिमी बंगाल तथा मद्रास और मध्यप्रदेश में अब भी हैं (रिस्ले—ट्राइब्स ऑव् बंगाल जिल्द ५, पृ० २४१)।

पांशु राष्ट्र—(४८।२६) महाभारत में कहा है कि (६१, ३०) अनायुस् का एक पुत्र पांशुराष्ट्र का राजा हुआ। पांशु पांडवों के साथ महाभारत में लड़े (उद्योग ४, १७) और उनका संबंध औड्रों से है (वही ४, १८)। औड्र उड़ीसा के रहनेवाले थे, इसलिये हमें पांशु लोगों की खोज उड़ीसा या छोटा नागपुर में करनी चाहिए। उड़ीसा में पान जाति के लोग प्राचीन पांशु लोगों के उत्तराधिकारी हैं (रिस्ले—वही, जिल्द २, पृ० १५६)।

सिंहल - प्रसिद्ध है।

समुद्रसार—कोषों में इसे मोती कहा है, लेकिन इस सूची में मोती का नाम अलग दिया है इसलिये समुद्रसार शायद समुद्रफेन का द्योतक हो।

वैडूर्य—(४८।३०) आरंभ में वैडूर्य स्फटिक का द्योतक था। लेकिन गार्बे (डि इंडिशेन मिनिरैलियन, पृ० ८५, नोट २) तथा राय सौरींद्रमोहन ठाकुर (मणिमाला) के अनुसंधानों से सिद्ध हो चुका है कि वैडूर्य और लहसुनिया एक ही रत्न थे।

मोती—भारत में मोती मनार की खाड़ी से आते थे।

शंख—(४८।३०) ६ठी शताब्दि तक शंख सीलोन से इटली तक भेजे जाते थे। मनार की खाड़ी के शंख अब भी बड़े पवित्र माने जाते हैं।

कुथ—(४८।३०) हाथी की रंगीन झूलों को कुथ कहते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि सिंहल में हाथियों की झूलें अच्छी नहीं थीं।

परिशिष्ट

सभापर्व के अंतर्गत उपायनपर्व का मूल पाठ (पूनास्थ भंडारकर प्राच्यपरिषद् द्वारा संशोधित)

अ० ४५

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः ।
त्रैखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २४ ॥

अ० ४६

आवर्जिता इवाभान्ति निघ्नाश्चैत्रकि कौकुराः ।
कारस्करा लोहजंघा युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २१ ॥

अ० ४५

कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ।
काम्बोजः प्राहिणोत्तस्मै परार्घ्यानपि कम्बलान् ॥ १९ ॥
रथयोषिद्गवाश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ।
त्रिशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत ॥ २० ॥

अ० ४७

यन्मया पाण्डवानां तु दृष्टं तच्छृणु भारत ।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसुमुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥
न विन्दे दृढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम् ।
फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥

ऐडांश्[1]चैलान्वार्षदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ वसु ॥ ३ ॥
अश्वांस्तित्तिरकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान् ।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥ ४ ॥
गोवासना ब्राह्मणाश्च दासमीयाश्च सर्वशः ।
प्रीत्यर्थं ते महाभाग धर्मराज्ञो महात्मनः ॥
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ५ ॥

---

१ पाठांतर, एडान्; एलान्; बैलान् ।

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्शुभान् ।
एवं बलिं प्रदायाथ प्रवेशं लेभिरे ततः ॥ ६ ॥
शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ॥
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः ।
शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवान्यजिनानि च ॥ ७ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः ।
उपनिन्युर्महाराज हयान्गान्धारदेशजान् ॥ ८ ॥
इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्नदीमुखैश्च ये ।
समुद्रनिष्कुटे जाताः परिसिन्धु च मानवाः ॥ ९ ॥
ते वैरामाः पारदाश्च वङ्गाश्च* कितवैः सह ।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ १० ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु ।
कम्बलान्विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ११ ॥
प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १२ ॥
आजानेयान्हयाञ्शीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १३ ॥
अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।
प्राग्ज्योतिषोऽथ तद्दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत्तदा ॥ १४ ॥
द्व्यक्षांस्त्र्यक्षाँल्ललाटाक्षान्नानादिग्भ्यः समागतान् ।
औष्णीषाननिवासांश्च बाहुकान्† पुरुषादकान् ॥ १५ ॥
एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।
बल्यर्थं ददतुस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ १६ ॥
इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्शुकवर्णान्मनोजवान् ।
तथैवेन्द्रायुधनिभान्सन्ध्याभ्रसदृशानपि ॥ १७ ॥

---

* पाठांतर आभीराः; तुंगाश्च ।
† ,, रोमकान् ।

अनेकवर्णानारण्यान्गृहीत्वाश्वान्मनोजवान् ।
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ॥ १८ ॥
चीनान्हूणाञ्शकानोड्रान्पार्वतान्तरवासिनः ।
वार्ष्णेयान्हारहूणांश्च कृष्णान्हैमवतांस्तथा ॥ १९ ॥
न पारयाम्यभिगतान्विविधान्द्वारि वारितान् ।
बल्यर्थे ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ॥ २० ॥
कृष्णग्रीवान्महाकायान्रासभाञ्शतपातिनः ।
आहार्षुर्दशसाहस्रान्विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ॥ २१ ॥
प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाह्लीचीनसमुद्भवम् ।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ॥ २२ ॥
कुट्टीकृतं* तथैवान्यत्कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ॥ २३ ॥
निशिताश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशून्शितान् ॥ २४ ॥
रसान्गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २५ ॥
शकास्तुखाराः† कङ्काश्च‡ रोमशाः शृङ्गिणो नराः ।
महागमान्दूरगमान्गणितानर्बुदं हयान् ॥ २६ ॥
कोटिशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसंमितम् ।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २७ ॥
आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ॥ २८ ॥
रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
हयैर्विनीतैः संपन्नान्वैयाघ्रपरिवारणान् ॥ २९ ॥

---

* कुटीकृतं ।

† तुषाराः; तुखाटाः; तुकाराः ।

‡ कौरव्य; कङ्काश्च के लिये कौमाराः पाठ भी है ।

विचित्रांश्च परिस्तोमान्रत्नानि च सहस्रशः।
नाराचानर्धनाराचाञ्शस्त्राणि विविधानि च ॥ १० ॥
एतद्दत्त्वा महद्द्रव्यं पूर्वदेशाधिपो नृपः।
प्रविष्टो यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

अध्याय ४८

दायं तु तस्मै विविधं शृणु मे गदतोऽनघ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसञ्चयम् ॥ १ ॥
मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम्।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥ २ ॥
खशा* एकाशना ज्योहाः† प्रदरा दीर्घवेणवः।
पशुपाश्च‡ कुणिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥
ते वै पिपीलिकं नाम वरदत्तं§ पिपीलिकैः।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥
कृष्णाल्ललामांश्चमराञ्शुक्लांश्चान्याञ्शशिप्रभान्।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु|| ॥ ५ ॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमम्बुभिः।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥
पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥
ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः।
वारिषेणसमुद्रान्ते¶ लोहित्यमभितश्च ये।
फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः ॥ ८ ॥

---

* खसाः; खशाः।

† छहाः; लम्बोहाः; ज्योहाः।

‡ पशुपा के स्थान पर पारदा भी पाठ है।

§ उद्धृतं यत्।

|| मधु।

¶ कारूषे।

चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान्कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ॥ ९ ॥
कैरातिकानामयुतं दासीनां च विशाम्पते ।
आहृत्य रमणीयार्थान्दूरजान्मृगपक्षिणः ॥ १० ॥
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ११ ॥
काय‌व्या* दरदा दार्वाः शूराः वैयमकास्तथा ।
औदुम्बरा† दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ॥ १२ ॥
काश्मीराः कुन्दमानाश्च‡ पौरका§ हंसकायनाः ।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या मद्रकेकयाः ॥ १३ ॥
अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वसातयः समौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥ १४ ॥
शौण्डिकाः‖ कुक्कुराश्चैव शकाश्चैव विशांपते ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शानवत्या गयास्तथा ॥ १५ ॥
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रपाणयः ।
आहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥ १६ ॥
वङ्गाः कलिङ्गपतयस्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः ।
दुकूलं कौशिकं चैव पत्रोर्णं प्रावरानपि ॥ १७ ॥
तत्र स्म द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ।
कृतकाराः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥ १८ ॥
ईशादन्तान्हेमकक्षान्पद्मवर्णान्कुथावृतान् ।
शैलाभान्नित्यमत्तांश्च अभितः काम्यकं सरः ॥ १९ ॥

---

* कांबोजा, क्रव्यादा, कैराताः, कावव्याः ।

† औदुंबरा; कुदुंबरा ।

‡ च कुमाराश्च ।

§ पौरका का पाठांतर घोरका भी है ।

‖ शौंडिकाः; पौंड्रिकाः ।

ददुस्तैकैको दशशतान्कुञ्जरान्कवचावृतान् ।
क्षमावतः कुलीनांश्च द्वारेण प्राविशंस्ततः ॥ २० ॥
एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥ २१ ॥
राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः ।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥ २२ ॥
तुंबुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
आम्रपत्रसवर्णानामददद्धेममालिनाम् ॥ २३ ॥
कृती च राजा कौरव्य शूकराणां विशांपते ।
अददद् गजरत्नानां शतानि सुबहून्यपि ॥ २४ ॥
पाण्डुराष्ट्राद्वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान् ।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन्काञ्चनमालिनाम् ॥ २६ ॥
जवसत्त्वोपपन्नानां वयःस्थानां नराधिप ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥ २७ ॥
यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश ।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशांपते ॥ २८ ॥
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ।
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम् ॥ २९ ॥
समुद्रसारं वैडूर्यं मुक्ताः शङ्खास्तथैव च ।
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् ॥ ३० ॥
संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ।
तान्गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ३१ ॥

—

कर्मभूमि और पाणिवाद

(१)

व्यास के धारणात्मक धर्म की परिभाषा में यह लोक कर्मभूमि कहा गया है। यहाँ से आगे जो परलोक है वह फलभूमि होगा—

कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्, फलभूमिरसौ मता ।

(वनपर्व, २६१ । ३५)

(२)

कर्म मनुष्य की विशेषता है—

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ।

(अश्वमेध०, ४३।२०)

कर्म ही मनुष्य की सच्ची परिभाषा है। कर्म करने से जीवन में जो प्रकाश उत्पन्न होता है उसी से मनुष्य देव बन जाता है।

(३)

मानवी पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए व्यास ने स्वयं देवराज इंद्र के मुख से कर्मवाद या पाणिवाद का व्याख्यान कराया है—

जिनके पास हाथ हैं वे क्या नहीं कर सकते ? जिनके पास हाथ हैं वे ही सिद्धार्थ हैं। जिनके पास हाथ हैं उनको मैं सबसे अधिक सराहना करता हूँ।

जैसे तुम सदा धन चाहा करते हो, वैसे मैं तो हाथवाले मनुष्यों की प्राप्ति चाहता रहता हूँ। पाणि-लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है।

जिनके पास देवों के दिए हुए दस अँगुलियोंवाले हाथ हैं, वे जाड़े-गर्मी-बरसात से अपनी रक्षा करते हुए वस्त्र, अन्न और सुख के साधन प्राप्त करते हैं।

वे पृथिवी के अधिपति होकर अनेक प्रकार के भोग भोगते हैं तथा नाना उपायों से औरों को अपने वश में कर लेते हैं। इसमें संदेह नहीं कि 'पाणिमन्त' पुरुष ही बलवान् और धनवान् बनते हैं।

वे ही अनेक प्रकार से आनंद करते और हंसते खेलते हैं।*

---

* अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणय: ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणय: ॥ ११ ॥
पाणिमद्भ्य: स्पृहाऽस्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभ: कश्चन विद्यते ॥ १२ ॥
अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशांगुली ॥ १४ ॥
अधिष्ठाय च गां लोके भुंजते वाहयन्ति च ।
उपायैर्बहुभिश्चैव वश्यानात्मनि कुर्वते ॥ १६ ॥
पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशय: ॥ ३४ ॥
ते खल्वपि रमन्ते च मोदन्ते च हसन्ति च ॥ ३५ ॥

(शांतिपर्व, १८० अ०)

हमारा साके का दिन आज

[लेखक—श्री मैथिलीशरण गुप्त]

हमारा साके का दिन आज
नहीं हमें केवल अपनी ही, औरों की भी लाज।

नए नए निर्लज्ज हुए शक सज्जित हैं अभिनव अस्त्रों से;
फलित न होंगे दलित यत्न अब उन्हीं गलित कुंठित शस्त्रों से।
सजने होंगे नई विजय के हमें नए ही साज,
हमारा साके का दिन आज।

हम अबाध्य भी रहें अनुद्धत न हो नृशंस विरोध हमारा,
प्रतिपक्षों के तन से क्या है, मन से हो प्रतिशोध हमारा।
संस्कृत होकर रहे अंत में प्राकृत पुरुष-समाज।
हमारा साके का दिन आज।

कोरी नीति कापुरुषता है, कोरी शक्ति हिंस्र पशु चेष्टा*,
निज विक्रम का सभा-रत्न ही अपना अनुपम उपदेष्टा।
अपने आदर्शों का द्रष्टा कालिदास कविराज,
हमारा साके का दिन आज।

---

* कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्। —कालिदास।

पौरव-पराक्रम-पदक

इस चित्र का आधार चाँदी का एक पदक है जो इस समय ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। एक भीमाकृति लौटे हुए हाथी पर दो योद्धा बैठे हैं। उनके पीछे एक अश्वारोही है। हाथी पर बैठे हुए पिछले योद्धा ने

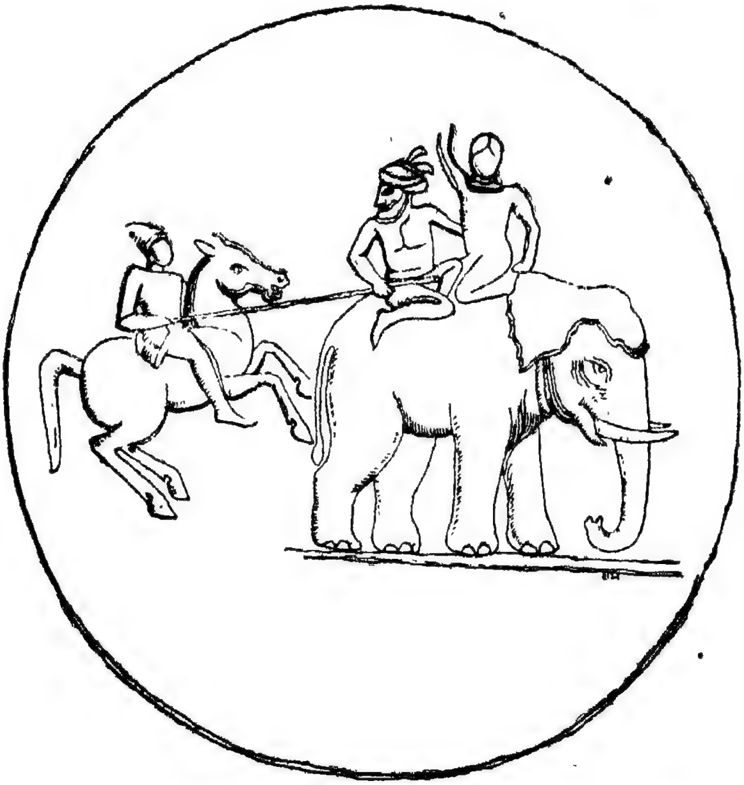

घूमकर अपनी भरपूर शक्ति से बर्छे का हाथ घुड़सवार पर चलाया है। यूनानी मुद्राशास्त्र के विशेषज्ञ श्री हेड महोदय के मत में, जिसे केंब्रिज हिस्ट्री के लेखक ने भी प्रमाण माना है (पृ० ३८९), यह पदक स्वयं सिकंदर के समय का है। श्री हेड के कथनानुसार इसमें पौरव-सिकंदर-युद्ध की एक

रोमांचकारिणी घटना का चित्रण है जिसका उल्लेख यूनानी इतिहास-लेखक अर्रियन ने किया है।

यवन सेना से युद्ध के समय अन्य सब लोग तो विचलित हो गए, परंतु पराक्रमी पौरव अपने स्थान पर अडिग जमे रहे। उस ईरानी सम्राट् की तरह जिसने ऐसे समय रणभूमि से भागकर प्राण बचाए थे, महाराज पौरव अपने स्थान से तिल भर भी न हिले और वीरों की भाँति उन्होंने अपने हाथी को निर्भयतापूर्वक चारों ओर से बरसते हुए भयंकर बाणों के बीच में रोका। एक बाण उनके दाहिने कंधे में लगा। उस समय हाथी उस स्थान से लौटा। महाराज पौरव अभी कुछ ही दूर गए थे कि उन्हें पीछे आता हुआ एक अश्वारोही दिखाई पड़ा। उसने चिल्लाकर कहा—'हे पौरव, अपना हाथी रोको, मैं यवनराज से तुम्हारे लिये संदेश लाया हूँ।' वीर पौरव ने तुरंत उसे पहचाना। यही वह तक्षशिला का राजा आंभि है जो देशद्रोह करके सिकंदर की ओर जा मिला था। उनके मन में घृणा भर गई और अपने स्थान पर बैठे हुए ही घूमकर अपने घायल हाथ की बची हुई शक्ति को समेटकर उन्होंने एक बर्छा फेंककर मारा। यदि आंभि ने कूदकर अपनी रक्षा न की होती तो वह अवश्य ही उसका निशाना बन गया होता।

श्री हेड का कथन कि इस पदक पर पौरव के पराक्रम की यही घटना अंकित है (बी० वी० हेड, हिस्टोरिया निम्यूरम, पृ० ८३३; कैं० हि०, पृ० ३६७, ३८९) बिलकुल यथार्थ जान पड़ता है, क्योंकि इससे दृश्य का अर्थ पूरी तरह समझ में आ जाता है। पदक की दूसरी ओर एक खड़े हुए वज्रधारी पुरुष की मूर्ति है जिसे वियस देवता के रूप में सिकंदर कल्पित किया गया है।

स्मिथ ने यूनानी भाषा के पोरस का संस्कृत रूप पौरव मानने में कुछ संदेह किया है (अर्ली हिस्ट्री ४ सं०, पृ० ६४, पाद-टिप्पणी)। किंतु कैंब्रिज हिस्ट्री के विद्वान् लेखक ने पोरस का शुद्ध रूप पौरव ही स्वीकार किया है। हमारी सम्मति में पौरव नाम ही शुद्ध था। पाणिनि के सूत्र (४,३,१००)*

---

* जनपदिनाम् जनपदवत्सर्वम् जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने।

एक भारतीय सैनिक योद्धा

पर काशिका टिप्पणी में जनपद् और उसके शासक के भिन्न नामों का उदाहरण देते हुए लिखा है—

अनुषण्डो जनपदः, पौरवो राजा, सा भक्तिरस्य पौरवीयः।

अर्थात् अनुषंड एक जनपद् का नाम था जिसका उल्लेख पाणिनि के कच्छादि गण (४।२।१३३) में भी आया है। उस जनपद् के अधिपति क्षत्रिय शासक का नाम पौरव था। राजा पौरव के प्रति भक्ति से अनुरक्त जो जनपद्-निवासी थे वे पौरवीय कहलाते थे। वीर पौरव के लिये दृढ़ भक्ति जनता में स्वाभाविक थी, और उसके लिये 'पौरवीय' शब्द भाषा में प्रचलित था, यह बात व्याकरण साहित्य के एक कोने में सुरक्षित इस उदाहरण से ज्ञात होती है। यह अनुषंड जनपद् जिसके राजा पौरव थे, प्राचीन केकय देश के ही अंतर्गत रहा होगा। वस्तुतः झेलम-शाहपुर-गुजरात के पहाड़ी इलाकों का प्रदेश या प्राचीन केकय देश ही राजा पौरव का राज्य था, जैसा कि यूनानी ऐतिहासिक के कथन से ज्ञात होता है। कर्तिअस के अनुसार झेलम और चिनाब के बीच में पोरस का राज्य था और उनके राज्य में तीन सौ नगर थे।

इस पदक के महाराज पौरव, जिन्होंने संग्रामभूमि में यवन-सेना से लोहा लिया प्राचीन क्षात्र-धर्म की प्रतिमूर्ति थे। यूनानी इतिहासलेखक उनके वीरत्व-गुण की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते। जिस समय घिर जाने पर पौरव अपने हाथी से उतरे और यूनानी दूत आदरपूर्वक उन्हें यवन सेनापति के पास लिवा ले गया, स्वयं सिकंदर उनके स्वागत को घोड़े पर चढ़कर आया। उनके मुख के तेज और शालवृक्ष की तरह ऊँचे दृढ़ शरीर को देखकर सिकंदर का मन सम्मान और आश्चर्य से भर गया। सिकंदर ने पौरव से पूछा—"आप अपने साथ कैसा व्यवहार चाहते हैं ?" "राजा के यथा-योग्य," पौरव ने उत्तर दिया। सिकंदर ने फिर कहलाया—"कुछ और निश्चित बात कहिए।" पौरव ने दर्प के साथ उत्तर दिया—" 'राजा के लिये यथा-योग्य', मेरे इस कथन में ही सब कुछ आ गया है।" इस उत्तर से प्रसन्न होकर सिकंदर ने उनको अपने मैत्री-बंधन में बाँध लिया और महाराज पौरव फिर अपने पूर्व पद पर अधिष्ठित हुए।

इस अग्नि-परीक्षा में पड़कर भी पौरव अपने अक्षुण्ण गौरव के साथ उत्तीर्ण हुए। वीर भाव उनमें कूट कूटकर भरा था। केकय देश की वीर-परंपराओं को उन्होंने अपने देव-कल्प साढ़े छः फुट ऊँचे शरीर में धारण कर रखा था, जैसा कि सीमांत-प्रदेश के अधिपति में होना चाहिए। बढ़ती हुई यूनानी सेना के आक्रमण ने राजा पौरव को क्षुब्ध किया। "मेरा नाम पहली हवि है" (हविरस्मि नाम)—यह कहकर उन्होंने पचास सहस्र भारतीय सेना की अभेद्य प्राचीर खड़ी करके यवन-सेनापति की गति को छेंक दिया। उस भारतीय सेना में तीस सहस्र भारतीय पदाति थे, जो छः फुट लंबे धनुष को खींचकर नौ फुट लंबे बाण छोड़ते थे। उस भयंकर युद्ध में पौरवराज ने असीम साहस और बल का परिचय दिया। उनके प्राणों से भी प्यारे दो पुत्र युद्ध की बलि हुए, अनेक सेनाध्यक्षों ने भी अपनी आहुति दी और स्वदेश की पताका को ऊँचा रखा। क्षत्रियों का कर्म क्षात्र धर्म का परिचय देना है। युद्ध का बलाबल परिणाम दैवाधीन होता है। हर्ष की बात है कि राजा पौरव ने जिस जुझाऊ यज्ञ का आरंभ किया था, क्षुद्रक-मालव जैसे लड़ाकू गण-राज्यों ने उसे आगे जारी रखा और अंततोगत्वा यवन-सेना भारत-विजय की आशा छोड़कर हृदय और शरीर दोनों से थकी-माँदी अपनी जन्मभूमि के लिये वापस फिरी।

राजा पौरव के पराक्रम का सूचक यह पदक अपने गौरवशाली संकेतों के साथ साथ कुछ विषाद की भी रेखाओं को प्रकट करता है। ये रेखाएँ तक्षशिला के राजा आंभि का चरित्र है। अपने पड़ोसी देश अभिसार के राजा और केकय के राजा आंभि को कुछ अनबन थी। खेद है कि उसी वैर की आग को ठंढी करने के लिये आंभि ने तक्षशिला के द्वार यवन आक्रमणकारी के लिये खोल दिए और नगर की सब सेना तथा संपत्ति भी उसके अर्पित कर दी। आंभि के इस क्षुद्र कर्म से वीर पौरव कितने उत्तप्त हुए, यह इस बात से जाना जा सकता है कि संग्रामभूमि में घाव से लथपथ अपने दक्षिण बाहु के अंतिम प्रहार का लक्ष्य उन्होंने आंभि को ही बनाया। पौरव-पराक्रम-सूचक यह पदक भारतीय इतिहास के वीर-भाव का सूचक तो है ही, उसके करुण पक्ष का भी एक प्रतीक है।

भारत और अन्य देशों का पारस्परिक संबंध

[लेखक—श्री चंद्रगुप्त वेदालंकार]

१—सांस्कृतिक संबंध

संसार के इतिहास का अनुशीलन करता हुआ भारतीय विद्यार्थी अन्य देशों के विजयी इतिहास पढ़कर सोचता है कि क्या हमारे देश का भाग्य भी कभी जगा है ? क्या इस पुण्यभूमि के उपासकों ने भी कभी अपना विस्तार किया है ? क्या हमारे भी कभी सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक साम्राज्य फैले हैं ? वह अनंत से पुनः प्रश्न करता है, क्या यह सच है कि रघु ने दिग्विजय की थी, राम ने लंका जीती थी और अर्जुन पाताल देश तक गया था ? वह भारत के पुरातन खँडहरों को देखता है और कुछ निश्चयात्मक स्वर में पूछता है, नालंदा और तक्षशिला के विश्वविद्यालय क्या यहीं थे, जिनमें दूर दूर के देशों से विद्यार्थिजन शिक्षा प्राप्त करने आते थे और प्रविष्ट न हो सकने पर निराश हो अपने देशों को लौट जाते थे ? ह्वेनत्सांङ् और फाहियान ने क्या इन्हीं विश्व-विद्यालयों में शिक्षा पाई थी ? क्या सचमुच मेरे ही देश को पुण्यभूमि समझकर चीनी लोग तीर्थयात्रा को आते रहे हैं ? वह अतीत का स्मरण करता है और स्मृतिपट पर बिखरी हुई स्थापनाओं को दोहराता है। जब देवानांप्रिय तिष्य को आध्यात्मिक प्यास बुझाने के लिये कोई स्रोत ढूँढ़ने की चाह हुई तो उसने अशोक से प्रार्थना की और कुमार महेंद्र तथा कुमारी संघमित्रा भगवान् बुद्ध का सत्य संदेश देने सिंहलद्वीप पहुँचे। जब चीन को नए प्रकाश की चाह हुई तो उसने बुद्ध की शरण ली। जब तिब्बत को आत्मिक उन्नति की तड़प का अनुभव हुआ तो शांतरक्षित, पद्मसंभव और अतिशा को निमंत्रित किया गया। जब अरब में कला, साहित्य और विज्ञान की खोज की गई तो भारतीय पंडितों का स्मरण किया गया। जावा, कंबोडिया और अनाम तो भारतीयों द्वारा बसाए हुए उपनिवेश ही हैं। सुदुरपूर्व के निवासी तो शिव, विष्णु और बुद्ध के

उपासक थे। बेयन का शिवमंदिर, अंकोर का विष्णुमंदिर, तथा बोरोबुदूर का बुद्धमंदिर आज भी बृहत्तर भारत की सुंदर झाँकी दिखा रहे हैं। सुदूर-पूर्व के प्रस्तर-खंडों पर खुदी हुई रामायण, महाभारत और गीता की कथाएँ सहस्रों वर्ष प्राचीन हमारे साहसी प्रचारकों और धर्म-साम्राज्य-निर्माताओं का स्मरण करा रही हैं। मानव-धर्मशास्त्र का—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

यह श्लोक उसे प्रेरणा देने लगता है और उसे प्रतीत होता है कि भारत भी कभी अपना विस्तार कर चुका है। जापान से मिस्र तक, बाली से ग्रीस तक बृहत्तर भारत का विशाल भवन खड़ा था। आइए उसकी रूपरेखा यहाँ खींचें—

आज से ढाई सहस्र वर्ष पूर्व भारतवर्ष में एक महान् धार्मिक क्रांति हुई थी। उस समय केवल भारत में ही नहीं, अपितु समस्त संसार के धार्मिक क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल मच रही थी। लगभग उसी काल में चीन में लाउत्सी और कन्फ्यूशस, ग्रीस में सुकरात तथा उसके समकालीन अन्य दार्शनिक और बैबिलोन में ईसा, धर्म के प्राचीन विचारों को परिशोधित कर रहे थे। भारत में इस क्रांति के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध थे। सारनाथ में अपने पाँच शिष्यों को संबोधन कर बुद्ध ने उपदेश दिया—"भिक्षुओ, अब तुम लोग जाओ और बहुतों के कुशल के लिये, संसार पर दया के निमित्त, देवताओं और मनुष्यों की भलाई, कल्याण और हित के लिये भ्रमण करो। तुम उस सिद्धांत का प्रचार करो जो आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है और अंत में उत्तम है। संपन्न, पूर्ण तथा पवित्र जीवन का प्रचार करो।" बुद्ध का अपने शिष्यों को यही प्रथम उपदेश था। भारतीय संस्कृति के इतिहास में इसका विशेष महत्त्व है; क्योंकि यहीं से धर्मचक्र का प्रवर्त्तन आरंभ होता है। इसी उपदेश में भारत के सांस्कृतिक विस्तार का तत्त्व निहित है। संस्कृति का यह प्रसार बुद्ध के जीवनकाल में भारत में ही फैलता रहा, पर अशोक के समय से यह सांस्कृतिक विस्तार भारत से बाहर फैलना आरंभ हुआ। बुद्ध की मृत्यु से २३६ वर्ष पश्चात् मोद्गलिपुत्र तिष्य ने तृतीय संगीति (सभा) को आमंत्रित किया। इस सभा में निश्चय किया गया कि विविध देशों में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ नौ प्रचारक-मंडल भेजे जायँ। काश्मीर और गांधार में मज्झंतिक को, महिष-

मंडल (मइसूर) में महादेव को, योन (यूनानी जगत्) में महारक्खित को, हिमवंत (हिमालय) प्रदेश में मज्झिम को, सुवन्नभूमि (पेगू, मौलमीन) में सोण और उत्तर को, लंका में महामहिंद (महेंद्र) को, वनवासी (उत्तरीय कनारा) में रक्खित को, अपरांत (बंबई) में योनधम्मरक्खित को और महारट्ठ (महाराष्ट्र) में महाधम्मरक्खित को भेजा गया। इन प्रचारक-मंडलों को अपने कार्य में आशातीत सफलता प्राप्त हुई।

ताम्रपर्णी (लंका)

जिस समय पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध-सभा के अधिवेशन हो रहे थे और मोद्गलिपुत्र तिष्य विदेशों में प्रचारक-मंडल भेजने की योजना बना रहे थे, उसी समय लंकाधिपति देवानांप्रिय तिष्य ने अशोक के पास एक दूतमंडल भेजने का विचार किया। इस दूतमंडल का नेता महाअरिष्ट था। दूतमंडल के पाटलिपुत्र पहुँचने पर अशोक ने तिष्य को महाअरिष्ट द्वारा संदेश भेजा—"मैं तो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में आ गया हूँ। तुम भी अपने को त्रिरत्न की शरण में लाने के लिये तैयार करो।" इधर महाअरिष्ट, तिष्य को अशोक का संदेश सुनाने जा रहा था और उधर कुमार महेंद्र ने इट्टिय, शंबल, उत्तिय और भद्रशाल के साथ लंका की ओर प्रस्थान किया। लंका में मिश्रक पर्वत पर तिष्य से महेंद्र की भेंट हुई। तिष्य ने अनेक प्रश्न किए जिनका महेंद्र ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ उत्तर दिया। उत्तरों से प्रभावित होकर तिष्य ने अपने अनुयायियों सहित बौद्धधर्म की दीक्षा ली। तिष्य की पुत्री अनुला ने भी दीक्षा लेनी चाही। इसके लिये एक दूसरा दूत-मंडल कुमारी संघमित्रा को आमंत्रित करने तथा बोधिद्रुम की शाखा लाने के लिये भारत भेजा गया। संघमित्रा के आने पर अनुला ने अपनी सहेलियों सहित संघ में प्रवेश किया और बोधिद्रुम की शाखा को अनुराधपुर के महाविहार में स्थापित किया गया, जहाँ वह आज भी विद्यमान है और संसार के प्राचीनतम ऐतिहासिक वृक्ष के रूप में प्रसिद्ध है। २३४ वि०पू० में तामिल राजा सेन और गुत्तिक की संमिलित सेनाओं ने लंका पर आक्रमण कर शासन करना आरंभ किया। यद्यपि ये लोग बौद्ध न थे तथापि इनकी नीति धार्मिक सहिष्णुता की थी। इन तामिल

राजाओं में सबसे प्रमुख एलार था। इसकी न्यायप्रियता और निरपेक्षता की अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। दुष्टग्रामणी ने एलार को कत्ल कर स्वयं राजगद्दी प्राप्त की। अब से पुनः सिंहली राजाओं का शासन आरंभ हुआ। इस काल में बौद्ध धर्म ने उन्नति की। इस युग का प्रसिद्ध राजा महासेन था। यह समुद्रगुप्त का समकालीन था। महासेन के बाद श्री मेघवर्ण आया। इसे महावंश में द्वितीय मांधाता कहा गया है। अनेक विहारों और मंदिरों का इस समय निर्माण हुआ। इसी के समय कलिंग का एक राजकुमार और राजकुमारी बुद्ध का दाँत लेकर राजसभा में उपस्थित हुए। इसे स्वर्ण-पत्र में रखकर ऊपर से मंदिर चिना गया। कांडि के मालिगाँव मंदिर में आज जो दाँत विद्यमान है, उसके विषय में कहा जाता है कि वह यही है। इसके बाद महानाम राजा हुआ। इसी के समय बुद्धघोष नामक भारतीय पंडित लंका गया। इसने अट्ठकथाओं का पाली में अनुवाद किया।

इसके बाद का इतिहास पारस्परिक झगड़ों का इतिहास है। इस अव्यवस्था में निर्बल पक्ष ने अपनी सहायता के लिये तामिल राजाओं को आमंत्रित किया। इन राजाओं के समय हिंदू धर्म का बहुत प्रसार हुआ। १०६५ ई० में विजयबाहु ने समस्त देश को जीतकर पुनः व्यवस्था स्थापित की। पीछे बौद्ध-संघ में जो विकृति आ गई थी उसे दूर करने के लिये बर्मा से भिक्षु बुलाए गए। कुछ काल बाद फिर तामिल लोगों ने लंका पर आक्रमण किया। इस समय के बाद से फिर कभी तामिल लोग लंका से पूर्ण रूप से निकाले नहीं जा सके। १५०५ में पोर्चुगीज और १६०२ में डच लोग लंका पहुँचे। तब से ईसाई मत का भी इस द्वीप में प्रसार हुआ। १७९५ में अँगरेजों ने डच लोगों से लंका को छीन लिया और १८१५ में कांडि का स्वतंत्र राज्य भी ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। इस समय संपूर्ण लंका ब्रिटेन के अधीन है। वहाँ हिंदू, बौद्ध और ईसाई मत—तीनों धर्मों का प्रचार है। लगभग चौथाई जनता तामिलभाषी हिंदू है। उत्तरीय जिलों में हिंदू मंदिरों की भरमार है। बहुत से बौद्ध मंदिरों में भी हिंदू देवताओं की मूर्तियाँ विद्यमान हैं। अधि-कांश जनता बौद्ध धर्मानुयायी है। आज लंका-निवासियों को भारतीय भिक्षु से दीक्षा लिए हुए दो सहस्र वर्ष से अधिक समय बीत चुका है तिसपर भी

दोनों देशों का वह सांस्कृतिक संबंध आज भी स्थित है और पिछले कुछ वर्षों में वह दृढ़तर हुआ है।

कुस्तन (खोतन)

तिब्बती और चीनी विवरणों में खोतन और भारत के सांस्कृतिक संबंध की अनेक मनोरंजक कथाएँ संगृहीत हैं। यद्यपि ये कथानक परस्पर मेल नहीं खाते तथापि इस बात में समता है कि इस देश का नाम कुस्तन (कु-भूमि है स्तन जिसका) किसी ऐसे राजकुमार के नाम पर पड़ा जिसे गृह-निर्वासन के कारण भूमि के सहारे पलना पड़ा। वह राजकुमार कौन था, इस विषय में कथानक एकमत नहीं हैं। इन विवरणों के अनुसार ५८ ई० पू० में विजय-संभव खोतन का राजा हुआ। यह कण्व राजा भूमिमित्र का समकालीन था। राज्याभिषेक के पाँचवें वर्ष काश्मीर से अर्हत् वैरोचन नामक भिक्षु खोतन पहुँचा। इसके उपदेशों से प्रभावित होकर राजा ने बौद्धधर्म की दीक्षा ली। इस प्रकार वैरोचन ही वह प्रथम प्रचारक था जिसने खोतन में महायान धर्म को प्रचलित किया था। विजयसंभव के बाद सात राजाओं तक बौद्धधर्म की कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। आठवाँ राजा विजयवीर्य्य था। इसके समय विहारों और चैत्यों का निर्माण हुआ। इसके बाद विजयजय और विजयधर्म के समय बौद्धधर्म की विशेष उन्नति हुई। दोनों देशों के बीच पंडितों का आवागमन हुआ। राजा विजयकीर्ति के समय श्वेत हूणों के आक्रमण हुए जिसके परिणामस्वरूप बौद्धधर्म को बहुत क्षति उठानी पड़ी। बहुत से विहार जला दिए गए और नए बनने से रोक दिए गए। १००० ईसवी में तुर्क आक्रांता यूसुफ कादरखाँ ने खोतन पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। इस समय जनता पर भयंकर अत्याचार किए गए। भिक्षु लोग देश छोड़कर तिब्बत भाग गए। बौद्धधर्म की अवनति होने लगी। १००० से ११२५ ई० तक तुर्कों का शासन रहा। ये लोग मुसलमान थे अतः अब इस्लाम का उत्कर्ष आरंभ हुआ। ११२५ से १२१८ तक का इतिहास अज्ञात है। १२१८ में खोतन, चंगेजखाँ के मंगोल साम्राज्य का हिस्सा बन गया। इसके उपरांत कई सौ वर्षों तक यह इस्लामी क्रियाशीलता का प्रधान केंद्र-

स्थान बना रहा। १८७८ में यह चीनी साम्राज्य के सिन्-क्याङ् प्रांत में मिला लिया गया।

आज से आधी शताब्दि पूर्व किसी को इस बात का स्वप्न भी न था कि खोतन की वह मरुभूमि जिसमें सब ओर रेत ही रेत दिखाई देता है, एकाएक किसी प्राचीन सभ्यता के केंद्र रूप में प्रकट होगी। पिछले कुछ वर्षों से विदेशी अनुसंधानकर्ताओं द्वारा विशेषतः सर आरल स्टाइन द्वारा जो गवेषणाएँ की गई हैं उनसे यही परिणाम निकलता है कि कुछ शताब्दि पूर्व इस देश में बौद्ध संस्कृति उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी। वहाँ सैकड़ों विहार थे जिनमें हजारों भिक्षु रहते थे। इन भिक्षुओं में कई एक धुरंधर विद्वान् थे। बुद्धसेन ऐसे ही पंडितों में से एक था। व्यापारिक दृष्टि से भी इस देश का बड़ा महत्त्व था। काशगर से चीन और चीन से भारत आनेवाले सार्थवाह (काफिले), व्यापारी और यात्री खोतन होकर ही आया-जाया करते थे। फाहियान, सुङ्युन, ह्वेन्-त्साङ् और मार्कोपोलो ने इसी मार्ग का अनुसरण किया था, परंतु किसी दैवी विपत्ति के कारण शिक्षा और सभ्यता का यह केंद्र निर्जन हो गया। आकाश को चूमनेवाले विहार, तारों से बातें करनेवाले स्तूप, प्रतिमाओं से विभूषित मंदिर तथा सहस्रों हस्तलिखित ग्रंथों से युक्त पुस्तकालय—सब एक साथ रेतीले टीलों के गर्भ में समा गए। इस सर्वतोमुख विनाश के परिणाम-स्वरूप आज से ५० वर्ष पूर्व खोतन की अत्युन्नत सभ्यता की कोई कल्पना भी न कर सकता था। इन अनुसंधानों द्वारा यद्यपि हमारे बहुत से लुप्त स्मृति-चिह्न प्रकाश में आ चुके हैं, फिर भी खोतन के सूखे हृदय में अब भी न जाने कितना सांस्कृतिक रस भरा पड़ा है।

चीन

यद्यपि भारत और चीन के पारस्परिक संबंध पर विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से प्रकाश डाला है, तथापि हम यहाँ चीनी विवरणों के आधार पर ही लिखेंगे। इन विवरणों के अनुसार हॉन-वंशीय राजा मिङ्ती ने ६५ ई० में १८ व्यक्तियों का एक दूतमंडल भारत भेजा जो लौटते हुए अपने साथ बहुत से बौद्ध ग्रंथ तथा कश्यप मातंग और धर्मरक्ष नामक दो भिक्षुओं को चीन ले

गया था। मातंग द्वारा राजा ने बौद्धधर्म की दीक्षा ली। दोनों भिक्षुओं ने चीनी भाषा सीखकर बहुत से ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन में बौद्धधर्म का अंकुर जमते ही भारतीय पंडितों का चीन की ओर प्रवाह सा बहने लगा। दूसरी शताब्दि का अंत होने से पूर्व ही आर्य्यकाल, सुविनय, चिलुकाक्ष और महाबल चीन गए। तीसरी शताब्दि में धर्मपाल, धर्मकाल, विघ्न, तुहयांन, कल्याण और गोरक्ष चीन पहुँचे। इन पंडितों ने तीन सौ से अधिक ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस समय तक हजारों लोग त्रिरत्न की शरण में आ चुके थे।

पाँचवीं शताब्दि के आरंभ में कुमारजीव चीन गया। इसने १२ वर्ष में १०० पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। यह प्रतिभासंपन्न व्यक्ति था। ग्रंथों का अनुवाद करते हुए इसने पुराना ढर्रा त्यागकर नवीन विधि का अनुसरण किया। इसी लिये इसके द्वारा अनूदित ग्रंथ मौलिक रचना-से जान पड़ते हैं। कुमारजीव की भाषा ह्वेन्-त्साङ् से भी अच्छी समझी जाती है। जापानी विद्यार्थियों से प्राय: यह प्रश्न पूछा जाता है कि कुमारजीव और ह्वेन्-त्साङ् में से किसकी भाषा श्रेष्ठ है और इसका उत्तर यही समझा जाता है कि कुमारजीव की भाषा अधिक अच्छी है। कुमारजीव की शिष्य-मंडली भी बहुत बड़ी थी। फाहियान इन्हीं शिष्यों में से एक था।

पाँचवीं सदी में चीनी साम्राज्य कई खंडों में बँट गया। उत्तर में तातार और दक्षिण में सुङ् वंश शासन करने लगे। ये दोनों वंश बौद्धधर्म के कट्टर शत्रु थे। इस समय बौद्धमतावलंबियों पर भयंकर अत्याचार किए गए। सङ्-वन्-ति ने इस प्रतिक्रिया को शांत कर फिर से बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा की। चीनी सम्राट् के इस धर्मप्रेम की कथा सुनकर भारत और मध्य एशिया के सभी राजाओं ने बधाई देने के लिये अपने दूत सम्राट् के पास भेजे। इस समय समस्त देश में नवजीवन का संचार हो रहा था। बौद्धधर्म के प्रति इस बढ़ते हुए उत्साह को देखकर भारतीय पंडितों का प्रवाह फिर से चीन की ओर बह निकला। ४३१ ई० में गुणवर्मा चीन पहुँचा। चीन जाने से पूर्व इसने जावा के राजा को बौद्धधर्म में दीक्षित किया। इसके बाद गुणभद्र चीन गया। यह महायान पंथ का इतना धुरंधर पंडित था कि लोगों ने इसका

नाम ही महायान रख दिया। इस प्रकार भारतीय पंडितों का एक के बाद दूसरा दल चीन पहुँचता रहा। इस समय चीन में भारतीयों की संख्या निरंतर बढ़ रही थी। तत्कालीन चीनी विवरणों से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दि के आरंभ में तीन हजार से भी अधिक भारतीय चीन में निवास कर रहे थे। इनके निवासार्थ चीनी राजाओं ने कितने ही सुंदर विहारों का निर्माण कराया था। इसी समय स्त्रियों को भी संघ में प्रविष्ट किया गया। छठी शताब्दि में जो प्रचारक चीन गए थे उनमें से बोधिधर्म, परमार्थ, जिनगुप्त, यशोगुप्त और ज्ञानभद्र प्रमुख थे। ६२९ ई० में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन्-त्साङ् भारत आया। इसने ५ वर्ष तक नालंदा विश्वविद्यालय में रहकर संस्कृत और बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया। ६४१ ई० में सम्राट् हर्षवर्धन ने एक दूतमंडल चीन भेजा। इसके प्रत्युत्तर में ६५७ ई० में एक चीनी दूतमंडल भारत आया, परंतु इसके भारत पहुँचने तक हर्षवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी। सातवीं शताब्दि, चीनी इतिहास में साहित्यिक दृष्टि से सुवर्णकाल समझी जाती है, परंतु इस शताब्दि में बहुत कम पंडित चीन गए; क्योंकि इस समय भारतीय पंडितों का प्रवाह तिब्बत की ओर बह रहा था। आठवीं शताब्दि में चीनी पंडितों ने भारतीय पंडितों से ज्योतिष् ग्रंथ पढ़कर हिंदू पंचांग के आधार पर अपना तिथिक्रम निश्चित किया। इस सदी के आरंभ में अमोघवज्र चीन गया। अपने समय का यह सबसे बड़ा अनुवादक था। कुमारजीव, जिनगुप्त और बोधिरुचि की तरह इसने भी अनुवादों द्वारा भारतीय संस्कृति को फैलाने का यत्न किया। इसने तंत्रशास्त्र का भी प्रचार किया। अमोघवज्र ने लगभग ४१ तान्त्रिक ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

अमोघवज्र के साथ बड़े बड़े पंडितों का चीन जाना समाप्त हो गया। इसके बाद डेढ़ सौ वर्षों तक बहुत कम पंडित चीन गए। ९५१ ई० में मंजुश्री और ९७३ में धर्मदेव चीन पहुँचे। धर्मदेव ने अनुवादकों का एक संघ स्थापित किया। संस्कृत के विद्वान् अनेक चीनी पंडित भी इसके सदस्य थे। इस संघ द्वारा बहुत से संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में उल्था किया गया। अंतिम भारतीय पंडित जो चीन गया उसका नाम ज्ञानश्री था। यह १०५३ ई० में चीन पहुँचा था। इस प्रकार एक हजार वर्ष से भी अधिक समय तक

भारतीय पंडित चीन जाते रहे। ये लोग अपने साथ जहाँ बौद्धधर्म को ले गए वहाँ संस्कृत साहित्य, भारतीय कला और संस्कृति को भी साथ ले गए। भारतीय पंडितों का यह कार्य संसार के इतिहास में अपूर्व स्थान रखता है। जिस उत्साह, त्याग और स्थिरता के साथ भारतीय पंडितों ने कार्य किया उसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों ने इस प्रगति में बाधा डाली। जब मंगोल सम्राट् कुबलेईखाँ ने अनुवादों की चाह से भारत की ओर दृष्टि डाली तो उसे निराश होना पड़ा। कारण यह था कि इस्लामी सेनाओं ने नालंदा, विक्रमशिला आदि शिक्षा और संस्कृति के केंद्रों को स्वाहा कर दिया था। जिन शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त करके कुमारजीव, बोधिरुचि, परमार्थ और जिनगुप्त सदृश महापंडितों ने चीन में सांस्कृतिक प्रसार किया था वे अब भस्म हो चुके थे। ह्वेन्-त्साङ् और ईत्सिंग के विद्यामंदिरों का अस्तित्व अब निःशेष हो चुका था।

१२८० से १३६७ तक चीन पर मंगोलों का आधिपत्य रहा। इनकी रुचि बौद्धधर्म की ओर अधिक थी। इससे इनके शासनकाल में बौद्धधर्म की विशेष उन्नति हुई। १३६८ से १६४४ तक मिङ् वंश ने शासन किया। ये लोग भी बौद्धधर्म के सहायक रहे। इसके बाद मंचू लोग आए। ये भी बुद्ध के अगाध भक्त थे। १९१२ में चीन में क्रांति होकर प्रजातंत्र की स्थापना हुई। यद्यपि विधान में परिवर्त्तन हो जाने से पहले डा० सनयातसेन राष्ट्रपति चुने गए और आज मार्शल चाङ् काई शेक चीन के राष्ट्रपति हैं और ये ईसाई हैं, तथापि प्रजा के धर्म में कोई परिवर्त्तन नहीं आया है। यह ठीक है कि चीनी बौद्ध-धर्म पर स्थानीय रंग बहुत चढ़ गया है, फिर भी वह मूलतः उन शिक्षाओं और क्रियाओं पर आश्रित है जिनका प्रचार भारतीय पंडितों ने किया था। भारत की भाँति चीन में भी इतनी उथल-पुथल होने पर भी आज तक कला की सहस्रों उच्चतम कृतियाँ विद्यमान हैं जिन पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप साफ दिखाई देती है। पिछली कुछ सदियों से पराधीन होने के कारण भारत का चीन से संबंध टूट-सा गया था, किंतु अर्वाचीन काल में दोनों देशों पर आई हुई विपत्ति के कारण वह पुरातन संबंध पुनः दृढ़ हो गया है। आज भारतीय परिचारक-मंडल चीन जाता है और चीनी मंडल भारत का पर्यटन करते हैं।

चीनी विद्यार्थी भारत आ रहे हैं और भारतीय विद्वान् चीन बुलाए जा रहे हैं। यह पुरातन इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है।

जापान

ईसवी सन् के आरंभ से ही चीन में बौद्ध शिक्षाएँ प्रचलित होने लग गई थीं। चतुर्थ शताब्दि तक वहाँ बौद्धधर्म पर्याप्त शक्तिशाली बन गया था। इस समय भिक्षु लोग चीन की सीमाएँ पार कर पड़ोसी राज्यों में भी इस नवीन धर्म का प्रचार करने लगे। ३७२ ई० में सुन्-दो नामक भिक्षु मूर्तियों और सूत्रग्रंथों के साथ सी-नान्-फू से को-गुर्-यू पहुँचा। चीन का पड़ोसी देश कोरिया इस समय तीन राज्यों में बँटा हुआ था—को-गुर्-यू, पाकूचि और सिल्ला। इनमें सबसे प्रथम को-गुर्-यू बौद्धधर्म के सौरभ से सुरभित हुआ। ३८४ ई० में मसनद नामक भिक्षु पूर्वीय चीन से पाक्चि पहुँचा। शीघ्र ही यहाँ का राजा भी बौद्ध बन गया। यहीं के राजा सिमाई ने ५५२ ई० में जापानी सम्राट् किम्याई की सेवा में धर्म-प्रचारक भेजे थे। इस प्रकार कोरिया, जापान में बौद्धधर्म के प्रचार के लिये माध्यम बना। ४२४ ई० में कुछ प्रचारक को-गुर्-यू से सिल्ला पहुँचे। इनके प्रयत्न से यहाँ का राजधर्म भी बौद्धधर्म हो गया। अन्य देशों की अपेक्षा कोरिया में बौद्धधर्म को राष्ट्रधर्म बनने में कम समय लगा।

चीन शाक्यमुनि का अनुगामी बन चुका था। चीन का पड़ोसी कोरिया भी बुद्ध की शरण में आ चुका था। अब प्रशांत महासागर में केवल एक ही द्वीपसमूह शेष था जहाँ बौद्ध-शिक्षाओं की सुगंधि अभी तक न पहुँची थी। इस द्वीपसमूह का नाम जापान था, किंतु यह भी समय के प्रभाव से न बच सका। २०२ ई० में जापानी सेनाओं ने कोरिया जीत लिया। ५२२ ई० में शिबातात्सु नामक एक भिक्षु पूर्वीय चीन से कोरिया होता हुआ जापान पहुँचा। इसने जापान के दक्षिणी तट पर फूस की एक झोपड़ी में बुद्ध-मूर्ति स्थापित कर बौद्धधर्म फैलाने का यत्न किया, परंतु लोग इसका अभिप्राय न समझ सके और एक भी व्यक्ति धर्म में दीक्षित न हुआ। इस घटना के ३० वर्ष बाद ५५२ ई० में पाकूचि के राजा सिमाई ने स्वर्णप्रतिमा, धार्मिक ग्रंथ, पवित्र भांडे और एक पत्र के साथ कुछ भिक्षुओं को जापानी सम्राट् किम्याई की

सेवा में भेजा। भिक्षुओं द्वारा उपहार पाकर और उपदेश सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने यह विषय अपने सामंतों के सम्मुख रखा कि इन उपहारों को स्वीकार करना चाहिए अथवा लौटा देना चाहिए? वहाँ दो पक्ष हो गए। सोगा परिवार स्वीकार करने के पक्ष में था और दूसरे लोग अस्वीकार करने पर बल दे रहे थे। परिणामतः उपहार सोगा परिवार को सौंप दिए गए और उसे अवसर दिया गया कि वह नए देवता की पूजा करके देखे। शीघ्र ही देश में भयंकर महामारी फैली और लोग मरने लगे। इस अवस्था में विरोधी लोगों ने इसका दोष बुद्ध को देते हुए मंदिर जला डाला और मूर्ति नहर में फेंक दी तथा राजा ने सिमाई को संदेश भेजा कि कृपा करके ऐसी मूर्तियाँ आगे से न भेजें। राजा की इस आज्ञा के बाद भी भिक्षु और भिक्षुणियाँ मूर्ति, धर्मग्रंथ और पवित्र धातु लेकर जापान पहुँचते रहे। इस नए धर्म की ओर स्त्रियाँ भी आकृष्ट हुईं। यही कारण है कि ५७७ ई० में पाकूचि के राजा ने एक भिक्षुणी जापान भेजी। ५८४ ई० में बहुत सी स्त्रियाँ संघ में प्रविष्ट हुईं। ५८८ में कुछ जापानी स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त करने कोरिया गईं। इस प्रकार छठी शताब्दि का अंत होने से पूर्व जापान में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। इस समय जापान की शासिका सुईको थी और शो-तो-कु-ताइशी इसका उपराज था। ये दोनों बौद्धधर्म के पक्षपाती थे। इनके समय बौद्धधर्म की बहुत अभिवृद्धि हुई। बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ जापान में कला, साहित्य और सभ्यता की उन्नति आरंभ हुई। यही कारण है कि शो-तु-कु-ताइशी जापानी इतिहास में सभ्यता का संस्थापक माना जाता है और आज दिन भी जापानी लोग बौद्धधर्म के सामाजिक संगठन का स्तंभ मानकर पूजते हैं। जापान का यही प्रथम सम्राट् था जिसने आम घोषणा करके बौद्धधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकार किया था। ६०७ ई० में शो-तो-कु ने एक दूतमंडल चीनी दरबार में भेजा। इस दूतमंडल के साथ बहुत से विद्यार्थी और भिक्षु भी चीन गए। स्वदेश लौटकर इन्होंने प्रचार-कार्य में बहुत हाथ बँटाया। शो-तो-कु अपने आचार में सम्राट् अशोक से बहुत मिलता था। शिक्षा द्वारा, दुर्भिक्ष में अन्न वितरण कर और बिना मूल्य औषध बाँट कर इसने नाना प्रकार से धर्म-प्रचार किया।

७१० से ७९४ तक का काल "नाराकाल" कहा जाता है। इस काल में जापान की राजधानी नारा रही। यही जापान की सर्वप्रथम स्थायी राजधानी थी। इस युग में जापान ने बहुत उन्नति की। इस उन्नति का श्रेय बौद्धधर्म को है। बौद्धधर्म अपने साथ केवल भारतीय दर्शन को ही नहीं अपितु, चीनी और भारतीय वास्तुकला को भी जापान ले गया। इस समय जापान में बड़े बड़े मंदिर और मूर्तियाँ गढ़ी गई। ७४९ ई० में संसार की महत्तम पित्तल-प्रतिमा 'नारा-दाए-बुत्सु' का निर्माण हुआ। १३ फीट ऊँचा प्रसिद्ध 'तो-दाइजी' घंटा भी इसी काल में बना। इस काल की मूर्तियों पर भारतीय कला की झलक स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। इसी काल में चीन और भारत में भी बौद्धकला उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी। इसी समय चीन में पहाड़ काटकर 'सहस्र बुद्धोंवाले गुहामंदिरों' का निर्माण हो रहा था और लगभग इसी समय भारत में अजंता की दीवारों पर पत्थर तराशकर जातक कथाएँ चित्रित की जा रही थीं। इस युग में बौद्धधर्म का बहुत प्रसार हुआ। एक लेखक ने ठीक ही लिखा है—"बौद्धधर्म ने जापान में कला, वैद्यक, कविता, संस्कृति और सभ्यता को प्रविष्ट किया। सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक प्रत्येक क्षेत्र में बौद्धधर्म ने अपना प्रभाव दिखाया। एक प्रकार से बौद्धधर्म जापान का शिक्षक था जिसकी निगरानी में जापानी राष्ट्र उन्नति कर रहा था।"

७९४ से ८८९ तक "ही-अन युग" कहाता है, क्योंकि इस काल में जापान की राजधानी ही-अन नगर रही। इन दिनों जापान में दो महापुरुष उत्पन्न हुए। इनका उद्देश्य चीनी बौद्धधर्म के आधार पर जापानी बौद्धधर्म की उन्नति करना था। आगामी शताब्दियों में जापान के सामाजिक और धार्मिक जीवन पर इन आचार्यों की शिक्षाओं का बहुत प्रभाव पड़ा। इनके नाम साइचो और कोकई थे। ८८९ से ११९२ तक जापान की शासन-शक्ति फ्यूजिवारा वंश के हाथ में रही। जिस चित्रकला के लिये जापान जगद्-विख्यात है, उस कला का विकास इसी समय हुआ। इस उन्नति में भिक्षुओं ने बहुत हाथ बँटाया।

११९२ से १३३८ तक का समय 'कामाकुरा काल' कहाता है। इस समय जापान की राजधानी कामाकुरा थी। यह काल सामंत-कलह के लिये

प्रसिद्ध है। इस कलह में मिनामोतो वंश सफल हुआ। इस वंश के लोगों ने शोगुन (सुप्रिम मिलिटरी चीफ) की उपाधि धारण कर शासन किया। शोगुनों की जापान में वही स्थिति थी जो भारतीय इतिहास में पेशवाओं की थी। योरितोमो ने अपनी विजय का कारण बौद्धधर्म समझकर कामाकुरा में अमिताभ (बुद्ध) की एक संसार-प्रसिद्ध विशाल मूर्ति स्थापित की। इधर जब राजनीतिक उथल-पुथल मची हुई थी तब जापान में बड़े बड़े महात्माओं का आविर्भाव हो रहा था। इन्होंने अपने ऊँचे व्यक्तित्व द्वारा जनता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इन महात्माओं के नाम थे होनेन्, शिन्रन, निचिरेन् और दोजेन्। इनके नाम से जापान में बौद्ध संप्रदाय भी प्रवर्तित हुए। १३३८ से १५७३ तक का काल राजनीतिक संघर्षों तथा धार्मिक उन्माद का काल है। इस अराजकता का अंत तीन राजनीतिज्ञों—नोबुनागा, हिदयोशि और इयसु ने किया (१५७३ से १८६८ तक)। इस काल में भिक्षुओं ने पारस्परिक झगड़े त्यागकर शिक्षा की ओर ध्यान दिया। बौद्ध विहार सैनिक छावनियाँ न रहकर शिक्षाकेंद्र बन गए। उनमें लड़ाकू प्रचारकों के स्थान पर बौद्ध विद्वान् पैदा होने लगे। सर्वत्र धार्मिक शांति के साथ कला का भी अभ्युदय हुआ। १८६८ से १९४० तक का समय "मेइजी-युग" कहाता है। १८६९ में राजा मेइजी ने एक घोषणा की। इसमें कौंसिल-निर्माण, सामंत-प्रथा का नाश और विदेशों से ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख किया गया था। इसे नए जापान का मैग्नाचार्टा कहा जाता है। इस समय तोक्यो को राजधानी बनाया गया। विज्ञान का तीव्रता से प्रसार हुआ और लोग पाश्चात्य जगत् की उन्नति का कारण ईसाइयत को मानकर उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। परिणामतः समूचे राष्ट्र में इसकी प्रतिक्रिया हुई। पाश्चात्य विचारधारा छोड़ दो, राष्ट्रीय विचारों को अपनाओ, जापान जापानियों का है—ये विचार इस युग के पथप्रदर्शक बने। इस आंदोलन के कर्णधार बौद्ध लोग थे जिन पर पाश्चात्य संस्कृति का रंग न चढ़ा था। इस आंदोलन ने जापानियों के पश्चिम की ओर झुकते हुए मनों को स्वदेश की ओर खींच लाने में बड़ी सहायता की। साथ ही लोगों में यह भी विश्वास उत्पन्न हुआ कि बौद्धधर्म भूतकाल का भग्नावशेष ही नहीं अपितु, राष्ट्र-

कल्याण के लिये सदा नवीन, वह सुंदर संदेश है जो न तो योरुप के पास है और न वहाँ की ईसाइयत के ही पास। इस प्रकार बौद्धधर्म का पुनरुत्थान हुआ। १८७० में बौद्धधर्म राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकृत किया गया। इस समय अन्य देशों में भी बौद्धधर्म फैलाने का यत्न किया गया। हवाई द्वीप में इसी काल में बौद्धधर्म फैला। अति प्राचीन काल से जापानियों का यह विश्वास है कि सूर्य्य का सर्वप्रथम उदय उनके देश में ही होता है। इसलिये ये अपने देश को 'सूर्य्योदय का देश' कहते हैं, परंतु जापानी लोग अपनी समस्त उन्नति का श्रेय एक दूसरे ही आध्यात्मिक सूर्य्योदय को देते हैं। वह है बौद्धधर्म, 'नमः अमितबुद्धाय' का जो संजीवनी नाद लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व भारत की हृदय-गुहा से उठा था वह हिमालय के हिममंडित शिखरों को प्रकंपित कर, प्रशांत महासागर की ऊर्मिमालाओं को उद्वेलित करता हुआ आज जापान के वायुमंडल में गूँज रहा है 'नामु अमिता बुत्सु।'

तिब्बत

तिब्बती कथानकों के अनुसार चौथी शताब्दि में लो-सेम्-सो (भारतीय पंडित का तिब्बती नाम) कुछ बौद्ध ग्रंथ लेकर तिब्बत पहुँचे। परंतु राजा के अपढ़ होने से पंडित और अनुवाद ग्रंथ देकर वापिस लौट आए। तो-तो-रि के शासनकाल में ये ग्रंथ फिर से राजा के संमुख उपस्थित किए गए, किंतु इस समय भी तिब्बत में लिखना-पढ़ना प्रचलित न हुआ था। अतः इन ग्रंथों का अभिप्राय न जाना जा सका। ६२९ ई० में स्रोङ् सेन् गंपो राजा बना। इसने ६३२ ई० में तान्‌निसंबोता को अन्य सोलह व्यक्तियों के साथ बौद्ध ग्रंथ लाने तथा भारत की भाषा सीखने के लिये यहाँ भेजा। १८ वर्ष तक भारत में रहने के उपरांत यह दूतमंडल तिब्बत लौटा। वहाँ जाकर इसने नई भाषा का प्रचार किया जो हरहा के मौखरी शिलालेख तथा काश्मीर की तत्कालिक लिपि से बहुत मेल खाती थी। इस नई भाषा का व्याकरण चंद्र-गोमिन और पाणिनीय के आधार पर तैयार किया गया था। ६४१ ई० में स्रोङ्-सेन्‌गंपो ने चीनी राजकुमारी से विवाह किया। इसके संसर्ग से यह बौद्ध बन गया और बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ यत्न करने लगा। ८वीं शताब्दि में

आचार्य शांतिरक्षित और पद्मसंभव तिब्बत गए। ७४९ ई० में पद्मसंभव ने उदंतपुरी विश्वविद्यालय के अनुकरण पर सम्-ये नामक विहार बनवाया। यह आज भी विद्यमान है। आर्य्यदेव, बुद्धकीर्ति, कुमारश्री, कर्णपति, कर्णश्री, सूर्य्यध्वज, सुमतिसेन आदि पंडित भी तिब्बत गए। ये सब संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद करने में संलग्न थे। शांतिरक्षित की मृत्यु हो जाने पर आचार्य कमलशील को तिब्बत में आमंत्रित किया गया। इन्होंने शास्त्रार्थ में चीनी पंडितों को परास्त किया। इससे इनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। इस प्रभाव को चीनी पंडित न सह सके। परिणामतः चीनी पंडितों ने कसाई भेजकर कमलशील का वध करवा डाला। तिब्बतियों ने उनका शरीर मसाले लगाकर आज तक सुरक्षित कर रखा है। रत्पाचन् का समय तिब्बती इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से पुकारा जाता है। इस काल में बौद्ध-धर्म की बहुत उन्नति हुई। तिब्बती भाषा का कोश तैयार किया गया था, जिसमें संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों को विस्तारपूर्वक समझाया गया था। भारतीय आदर्श पर तिब्बती भार, नाप तथा मुद्राएँ निश्चित की गईं। संस्कृत ग्रंथों को अनूदित करने के लिये भारत से जिनमित्र, शीलेंद्रबोधि, दानशील, प्रज्ञावर्मन्, सुरेंद्रबोधि आदि पंडित बुलाए गए। अनेक तिब्बती युवक भारतीय धर्म और भाषा का अध्ययन करने भारत आए। इन युवकों ने स्वदेश लौटकर संपूर्ण त्रिपिटक तिब्बती भाषा में अनूदित कर दिया। रत्पाचन् की मृत्यु के पश्चात् तिब्बत का वातावरण बौद्धधर्म के प्रति विषपूर्ण हो गया। इस समय भिक्षुओं पर भयंकर अत्याचार किए गए। उन्हें आचार-विरुद्ध कार्य करने को बाधित किया गया। मंदिरों के द्वार दीवारें खड़ी करके बंद कर दिए गए। लगभग सौ वर्ष तक तिब्बत की यही दशा रही। भारतीय पंडित देश से निकाल दिए गए। अनुवादक अन्य देशों में भाग गए। तात्पर्य यह है कि इस समय बौद्धधर्म तिब्बत में अंतिम साँस ले रहा था। लगभग एक सदी बाद अव्यवस्था और असहिष्णुता की यह दशा शनैः शनैः परिवर्तित होने लगी। सभी ओर बौद्धधर्म का पुनरुत्थान करने की हल्की सी चर्चा उठ खड़ी हुई। परिस्थितियाँ परिवर्तित हो जाने से भारत और तिब्बत में आवागमन पुनः आरंभ हो गया। तिब्बती भिक्षु धार्मिक शिक्षा के लिये भारत

आने लगे और भारतीय पंडित प्रचारार्थ तिब्बत पहुँचने लगे। इस काल में जो पंडित तिब्बत गए उनमें प्रमुख स्मृति था। १०१३ में आचार्य धर्मपाल, सिद्धपाल, गुणपाल और प्रज्ञापाल के साथ तिब्बत गए। इसी समय सुभूति श्री शांति भी तिब्बत पहुँचे। इनके अतिरिक्त अन्य पंडित भी तिब्बत गए, परंतु इनमें सर्वप्रमुख दीपंकर श्री ज्ञान अतिशा थे। इनका तिब्बत-निवासियों पर बहुत प्रभाव पड़ा। इन्होंने लगभग दो सौ ग्रंथ लिखे व अनूदित किए। अनुवाद करने और ग्रंथ लिखने के अतिरिक्त इन्होंने सार्वजनिक भाषण भी दिए और अंत में एकांतवास कर शिष्यों को जीवन-सुधार के लिये आवश्यक निर्देश भी दिए।

११वीं शताब्दि में बौद्धधर्म तिब्बत में अपने मध्याह्नकाल में था। स्थान स्थान पर विहारों और मंदिरों का निर्माण हो रहा था। बौद्धधर्म के अनेक संप्रदाय फैल रहे थे। ग्रंथों का अनुवाद हो रहा था; प्रचारक प्रचार कर रहे थे। इस काल का मुख्य व्यक्ति मर्-पा था। यह कर्मकांड का अद्वितीय पंडित था। इसने तीन बार भारत की यात्रा की थी। स्वदेश लौटकर इसने का-ग्यो संप्रदाय चलाया। इसका आज भी तिब्बत तथा भूटान में बहुत प्रचार है। १०७१ ई० में नैपाली सीमांत पर साक्या विहार की स्थापना हुई। इस विहार ने तिब्बत में भिक्षुओं का प्रभाव बढ़ाने में बहुत सहायता की। इसी समय चंगेजखाँ और उसके साथियों ने एशिया के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लेना आरंभ किया। १२५८ ई० में कुबलेईखाँ ने एक महान धार्मिक सम्मेलन बुलाया। इसमें तीन सौ बौद्ध भिक्षु, दो सौ कन्फ्यूशसधर्मी और दो सौ ताइधर्मी उपस्थित हुए। साक्या के महापंडित की वक्तृत्वकला के कारण बौद्ध लोग विजयी हुए। कुबलेईखाँ महापंडित से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इसे मध्य तिब्बत का शासक नियुक्त कर दिया। इसके बाद ताशि-ल्हुन-पो विहार के महंत सानम्-ग्यासे को मंगोलिया निमंत्रित किया गया। इसने अपने उपदेशों से कुबलेईखाँ को मोह लिया। कुबलेईखाँ ने बौद्धधर्म स्वीकार किया और सानम्ग्यासे को दाले-लामा की उपाधि प्रदान की। इसे परंपरा रूप से सभी उत्तराधिकारी धारण करते गए। इस समय १४वाँ दाले-लामा शासन कर रहा है। यह दाले-लामा ही तिब्बत का राजा और धर्माचार्य दोनों पद धारण करता है।

इस प्रकार भारतीय प्रचारक, आवागमन के मार्गों से सर्वथा शून्य, समय से बहुत पिछड़े हुए उन तिब्बतियों के देश में भी एक दिन बर्फीली घाटियों को पार कर सब प्रकार की विपत्तियों को झेलकर प्रविष्ट हुए। उन्होंने कैलाश के श्वेत शिखरों और राजहंसों की जन्मभूमि मानसरोवर के तट पर खड़े होकर 'बुद्धं शरणं गच्छामि' के पवित्र नाद से सारे तिब्बत को गुँजा दिया। भारतीय विश्वविद्यालयों की शैली पर विद्यालय खोले। भारतीय वर्णमाला, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष और तंत्रशास्त्र का प्रचार किया। भारतीय भार, नाप और मुद्रा को प्रचलित किया। सहस्रों संस्कृत ग्रंथों को तिब्बती भाषा में अनूदित कर बुद्ध का संदेश सर्वसाधारण तक पहुँचाया। यह गर्वपूर्वक कहा जा सकता है कि विशुद्ध भारतीय नींव पर तिब्बती धर्म का महाप्रासाद खड़ा किया गया। उसकी एक एक ईंट भारतीय साँचे में गढ़ी गई। आज से १३०० वर्ष पूर्व भारतीय प्रचारकों ने जिस रंग को उस पर चढ़ाया था वह आज भी फीका नहीं पड़ा है। रहन-सहन, आचार-व्यवहार, कला-कौशल सबमें भारत की अमिट छाप स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकरण को हम सिलवाँ लेवी के इन शब्दों से समाप्त करते हैं "भारत ने उस समय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किए थे जब सारा संसार बर्बरतापूर्ण कृत्यों में संलग्न था और जब उसे इसकी तनिक भी चिंता न थी। यद्यपि आज के साम्राज्य उनसे कहीं अधिक विस्तृत हैं, पर उच्चता की दृष्टि से वे इनसे कहीं बढ़कर थे, क्योंकि वे वर्तमान साम्राज्यों की भाँति तोप, तमंचे, वायुयान और विषैली गैसों द्वारा स्थापित न होकर सत्य और श्रद्धा के आधार पर खड़े हुए थे।"

अरब

पीछे हमने बौद्ध संस्कृति के प्रसार का वर्णन किया है, परंतु यह केवल बौद्धधर्म ही न था जो हिमालय और समुद्र के पार पहुँचा था। बौद्ध प्रचारकों की भाँति हिंदू प्रचारक भी अपनी मातृ-संस्कृति का प्रचार विदेशों में कर रहे थे। जिस समय बौद्ध-प्रचारक हिमालय की बर्फीली और विकट शिखरावली पर चढ़ते-उतरते हुए त्रिविष्टप में प्रविष्ट हो रहे थे ठीक उसी समय

हिंदू प्रचारक अति उत्तुंग ऊर्मिमालाओं से क्रीडाएँ करते हुए अरबसागर के विशाल वक्षःस्थल को चीरकर हजरत मुहम्मद के अनुयायियों में भारतीय संस्कृति के प्रति भव्य भावनाएँ उत्पन्न कर रहे थे। अरबों में भारतीय संस्कृति-प्रवेश के दो कारण हैं। अरब व्यापारी और बरामका वंश के मंत्री।

अरब और भारत दो ऐसे देश हैं जो एक समुद्र द्वारा परस्पर मिले हुए हैं। अरब के तीन ओर समुद्र है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ही हम इसे अत्यंत प्राचीन काल से व्यापार में संलग्न देखते हैं। हजरत यूसुफ के समय से वास्कोडिगामा तक अरब लोग भारतीय सामान को विदेशों में बेचते रहे। व्यापारी होने के कारण अरबों को भारत के विषय में अच्छा परिचय था। यही कारण है कि जब खलीफाओं को वैद्यों और पंडितों की आवश्यकता हुई तो इन व्यापारियों द्वारा उनका परिचय मिला और वे अरब ले जाए गए।

बरामका वंश का मंत्रिपद पर आरूढ़ होना भारतीय संस्कृति-प्रचार में बहुत सहायक हुआ। ये लोग पहले बौद्ध थे। यही कारण है कि मुसलमान हो जाने पर भी इनका सांस्कृतिक प्रेम नहीं छूटा। अब्बासी खलीफाओं के समय इन मंत्रियों की प्रेरणा पर भारत के बहुत से पंडित बगदाद पहुँचे। इन्होंने संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया। इन पंडितों के नाम अरबी में जाकर इतने बिगड़ चुके हैं कि उनके वास्तविक रूप को ढूँढ़ निकालना कठिन है। महाभारत, चाणक्यनीति, पंचतंत्र आदि ग्रंथ अनूदित किए गए। बोजासफ (बोधिसत्त्व) नामक पुस्तक इस्लाम के एक संप्रदाय का धर्मग्रंथ है। इस पुस्तक में बुद्ध के जन्म, शिक्षा आदि का वर्णन है। १ से ९ तक के अंक लिखने की विधि अरबों ने भारत से सीखी। इसी लिये वे इन अंकों को 'हिंदसा' कहते हैं। आगे चलकर अरबों ने योरुप भर में इन अंकों का प्रचार किया। इसी से योरुप में इन्हें 'अरबी अंक' कहा जाता है। ७७१ ई० में 'बृहस्पति सिद्धांत' नामक ज्योतिष ग्रंथ 'अस्सिंद हिंद' नाम से अनूदित किया गया। इसके बाद आर्यभट्ट, अरजबंद नाम से और खंडनखाद्यक, अरकंद नाम से अनूदित किए गए। आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त के ग्रंथ भी भाषांतरित किए गए थे। अरबों ने इस ज्योतिष विद्या को

बगदाद से स्पेन तक फैलाया और स्पेन द्वारा यह संपूर्ण योरुप में फैल गई। भारतीय ज्योतिष का अरबों पर इतना प्रभाव पड़ा कि जहाँ पहले खलीफाओं के दरबार में ईरानी ज्योतिषी रहा करते थे वहाँ मंसूर के समय हिंदू ज्योतिषी रखे गए। भारतीय चिकित्सा-पद्धति का भी अरबों में प्रसार हुआ। खलीफा हारूँ रशीद को अच्छा करने के लिये भारत से माणिक्य नामक वैद्य को बुलाया गया था। नवीं शताब्दि में अरब से कुछ व्यक्ति जड़ी-बूटियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भारत भेजे गए और कुछ भारतीय पंडित चिकित्सा संबंधी ग्रंथों के अनुवाद-कार्य में लगाए गए। चरक, सुश्रुत, पशु-चिकित्सा, स्त्री-रोग, सर्पविद्या आदि विषयों की पुस्तकें अरबी में अनूदित की गईं। भारतीय संगीत से अरबों को बहुत प्रेम था। इस विषय के संस्कृत ग्रंथों का भी अरबी में उल्था हुआ। भारतीय धर्म के प्रति भी अरबों को बहुत दिलचस्पी थी। यहिया बरमकी ने एक व्यक्ति को इसलिये भारत भेजा था कि वह यहाँ की औषधियों और धर्मों का वृत्तांत लिखकर ले जाए। चीनी यात्रियों की तरह बहुत अरब लोग भी विद्याध्ययन के लिये भारत आए। इनमें से एक बैरूनी थी। यह चालीस वर्ष तक भारत में रहा। यहाँ रहकर इसने संस्कृत सीखी, विविध धर्मों का अनुशीलन किया और स्वदेश लौटकर भारत की तात्कालिक दशा का चित्रण करते हुए कई ग्रंथ लिखे। भारतीय दर्शन, साहित्य, गणित, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र आदि द्वारा अरबों के हृदयों में भारतीयों के प्रति अटूट श्रद्धा पैदा हो गई थी और बहुधा वे अपने इन भावों को लेखों में प्रकट भी करते थे। अरबी साहित्य ऐसे उद्गारों से भरा पड़ा है।

इस प्रकार "मुझे संसार के साम्राज्य की इच्छा नहीं; स्वर्ग-सुख तथा मोक्ष को भी मैं नहीं चाहता, मैं तो परिताप-पीड़ित प्राणियों की दुःख-निवृत्ति चाहता हूँ" इस भावना से भरे हुए, सेवा के परम व्रत से दीक्षित, प्राणिमात्र की कल्याण-कामना से जलते हुए इन भारतीय प्रचारकों ने स्त्री-पुत्र, घरबार, धनधान्य, तन-मन, प्रिय से प्रिय पदार्थ तथा बड़े से बड़े स्वार्थ का बलिदान कर भारतीय संस्कृति को हिमालय और समुद्र के पार पहुँचाने का अथक प्रयत्न किया। जो महापुरुष इस यज्ञ में सफल हो गए और जिनके प्रातःस्मरणीय नाम आज भी इतिहास के पृष्ठों में अंकित हैं उनसे अतिरिक्त भी न मालूम

कितनी आत्माएँ उभरती जवानी में ही सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं को ठुकरा, मातृभूमि के कातर प्रेम की परवा न कर, अपने उद्योग के मध्य में ही धर्म-प्रचार की उद्दाम ज्वाला को हृदय में लिए लिए पर्वतों की हिम में गल गईं। कितने जराजीर्ण शरीर, तरुणोत्साह, शिशुहृदय, धर्म-प्रदीप के पतंगे विश्व को विश्वभ्रातृत्व का संदेश सुनाने की अतृप्त अभिलाषा के साथ अकाल में ही उन्मत्त महासागर की तुंग तरंगावली में सदा के लिये सो गए। कितनी कुसुम-सुकुमार आजन्म कुमारियाँ, अपने हृदय के अंतस्तल में भगवान् बुद्ध की धर्मप्रेरणा अनुभव कर, कोमलता, सुखाभिलाष और विलास-जीवन को तिलांजलि दे, तलवार की धार पर चलती हुई सेवा की वेदी पर अपने को न्यौछावर कर गईं। उनके नाम, उनकी स्मृतियाँ और उनके अवशेष आज कहाँ हैं? उन्हें आज कौन जानता है? न मालूम कितने अविज्ञात कुमार-जीव, अप्रसिद्ध महेंद्र और अविदित पद्मसंभव अपूर्ण संकल्पों की प्रचंड अग्नि को अपनी हृदयगुहाओं में दबाए हुए प्रशांत ज्वालामुखियों की तरह विस्मृति के अंचल में मुँह छिपाए पड़े हैं। मंदिर की नींव में लगे हुए अदृश्य प्रस्तर, जिन पर हमारी पूजा के पुष्प कभी नहीं चढ़ते, अधिक संमान के पात्र हैं।

२—राजनीतिक व आर्थिक विस्तार

ऊपर भारत के सांस्कृतिक विस्तार का वर्णन किया गया है,, किंतु विदेशों में भारत का विस्तार केवल सांस्कृतिक रूप में ही नहीं हुआ, अपितु राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भी भारत बहुत दूर तक फैला हुआ था। अत्यंत प्राचीन काल से भारत का पश्चिम से व्यापारिक संबंध था। चोल, पांड्य और केरल राज्यों के व्यापारी ग्रीस, रोम और चीन के बाजारों में व्यापार किया करते थे। व्यापार के कारण इन प्रदेशों का परस्पर घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया था। दक्षिण भारत से रोम को दूत भेजे गए थे। सीरियन लोग लड़ाइयों में भारतीय हाथियों का उपयोग करते थे। मिस्र में प्राप्त ममियों पर लिपटा हुआ कपड़ा भारतीय है, इस विषय में प्रायः सभी ऐतिहासिक एकमत हैं। तामिल भाषा की अनेक कविताएँ आज भी ग्रीक शराब, बर्त्तन और लैंपों की महिमा से तथा जावा-सुमात्रा जानेवाले

व्यापारियों के साहसिक कृत्यों से भरपूर हैं। व्यापार के कारण यहाँ के लोग नौका-नयन में बहुत निपुण हो गए थे। 'सामुद्रिकाः व्यापारिणः महासमुद्रं प्रवहणैस्तरन्ति' चाणक्य के अर्थशास्त्र का यह वाक्य चंद्रगुप्तकालीन जलसेना का वर्णन कर रहा है। आंध्रों और पल्लवों के सिक्कों पर दो मस्तूलवाली नौकाओं के चित्र तथा साँची, अजंता, जगन्नाथ और बोरोबुदूर के मंदिरों पर नौकाओं और समुद्रीय जहाजों की प्रतिमाएँ जलसेना की महत्ता का स्पष्ट

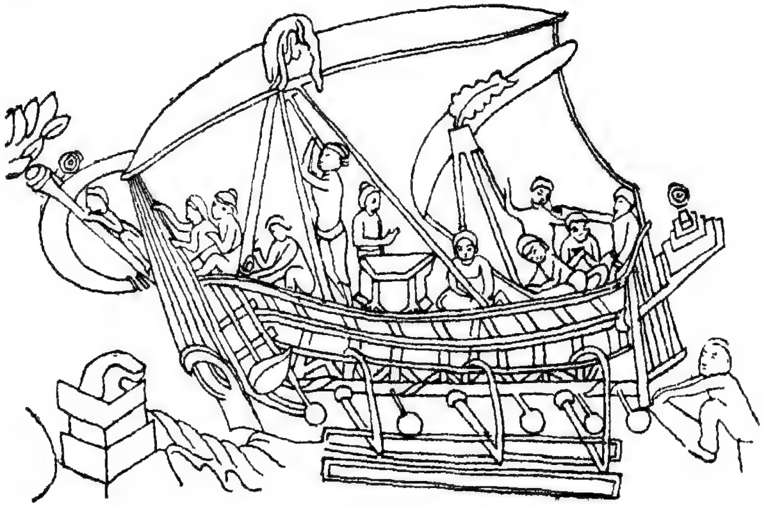

वर्णन कर रही हैं। नौ-संचालन में प्रवीण भारतीयों ने व्यापार तथा साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से नवीन प्रदेशों को ढूँढ़ना आरंभ किया। जिन लोगों ने इस दिशा में पग बढ़ाया उन्होंने समुद्र और स्थल—दोनों मार्गों का आश्रय लिया। उन दिनों व्यापारी लोग बनारस और पटना से, जल और स्थल दोनों मार्गों से, बंगाल जाते और वहाँ से ताम्रलिप्ति (वर्त्तमान तामलुक) के बंदरगाह से सुदूरपूर्व की ओर प्रस्थान करते थे। मछलीपत्तन के समीप तीन बंदरगाह थे। वहाँ से भी व्यापारी लोग पूर्वीय द्वीपसमूह की ओर रवाना होते थे। जावा, सुमात्रा, बालि, बोर्नियो आदि द्वीपों में भारत का विस्तार जल-मार्ग से ही हुआ था और बर्मा, स्याम, चंपा और कंबुज में उपनिवेश बसानेवाले भारतीयों ने अधिकतर स्थल-मार्ग और साधारणतया

जल मार्ग का अवलंबन किया था। इन देशों में बसकर भारतीयों ने मातृ-भाषा, मातृसंस्कृति और मातृकला को विकसित किया। भारतीय नगरों के नाम पर अयोध्या, कौशांबी, श्रीक्षेत्र, द्वारवती, तक्षशिला, मथुरा, चंपा, कलिंग आदि नगर बसाए। जावा, अनाम और कंबोडिया में आज भी कला के सैकड़ों उत्कृष्ट नमूने इन प्रवासी भारतीयों की अमर स्मृति के रूप में विद्यमान हैं। भारत का यह विस्तार मुख्यतः आर्थिक और अंशतः राजनैतिक दृष्टि से हुआ था। जो लोग इन देशों में बसे उन्होंने सुदूर देशों में रहते हुए भी भारत से सांस्कृतिक और व्यापारिक संबंध जारी रखा। यद्यपि आज बालि को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी न तो हिंदुओं का शासन ही है और न जनता ही हिंदू है तथापि बोरोबुदूर, प्रंबानम्, अंकोर, बेयन आदि सैकड़ों मंदिर आज भी इन देशों की अतीतकालीन हिंदू-संस्कृति का स्मरण करा रहे हैं। कंबोडिया के राजमहल में अब तक इंद्र की तलवार सुरक्षित है। नाच-गान, आमोद-प्रमोद और कथा-कलाप में जावा आदि द्वीपों के छोटे छोटे बालक-बालिकागण राम और कृष्ण की कथाओं द्वारा अपना संबंध हिंदुओं के किसी प्राचीन वंश से प्रकट कर रहे हैं। प्रायः इन सभी द्वीपों में प्राप्त अगस्त्य ऋषि की प्रतिमाएँ भारत में प्रसिद्ध उनके समुद्रपान तथा दक्षिण दिशा में जाकर बसने की समस्या का सुंदर समाधान कर रही हैं। कंबोडिया की सिरायु नदी और सुमेरिया शिखर आज भी मातृदेश के सरयू और सुमेरु का स्मरण करा रहे हैं। स्थान स्थान पर चट्टानों और मंदिरों पर उत्कीर्ण संस्कृत लेखों, रामायण, महाभारत और बुद्धचरित के कथानकों से अतीत का वह भव्य चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है जब कि इन देशों में संस्कृत का प्रचार था; गीता, रामायण, महाभारत और बुद्ध-चरित का पाठ होता था। यह बृहत्तर भारत कैसे बना और किन कारणों से इसका दुःखद अंत हुआ, उसका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जाता है।

कंबुज (कंबोडिया)

ईसा की प्रथम शताब्दि में समूचे कोचीन चीन, कंबोडिया, दक्षिण लओ, स्याम और मलाया प्रायद्वीप में एक हिंदू राज्य की सत्ता दिखाई

देती है। इस राज्य का वास्तविक नाम तो ज्ञात नहीं होता, हाँ, चीनी लोग इसे फूनान कहते थे। फूनान की स्थापना दक्षिण भारत के कौडिन्य नामक ब्राह्मण ने की थी। इसने वहाँ के नागपूजकों को परास्त कर, सोमा नामक कन्या से विवाह कर सोमा के नाम से सोमवंश चलाया। फूनान के इन अर्ध भारतीय राजाओं ने भारत से संबंध स्थापित करने का भी यत्न किया। २४० ई० में चंद्रवर्मा ने भारत से संबंध जोड़ने के लिये एक दूतमंडल यहाँ भेजा था। इसके प्रत्युत्तर में एक दूतमंडल भारत से फूनान भेजा गया। चीनी विवरणों के अनुसार चौथी शताब्दि में एक दूसरे कौडिन्य का नाम सुनाई देता है। इसने फूनान के शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर रहन-सहन, सामाजिक संगठन तथा राज्य-प्रबंध—सभी क्षेत्रों में भारतीय प्रथाओं का अनुसरण किया। पाँचवीं शताब्दि में कौडिन्य जयवर्मा राज्य करता दिखाई देता है। इसने ४८४ ई० में भारतीय भिक्षु शाक्य नागसेन को एक दूतमंडल के साथ चीन भेजा। इस समय के विवरणों से पता चलता है कि फूनान में हिंदू और बौद्ध दोनों धर्मों का प्रचार था, किंतु शैव धर्म का प्राबल्य था। फूनान का यह हिंदू राज्य छठी शताब्दि तक बना रहा। छठी शताब्दि के अंत में कंबुज आक्रमणकारी चित्रसेन ने इसे छिन्न-भिन्न कर दिया।

जिस समय फूनान शक्तिशाली राज्य था, उस समय कंबुज उसका एक अधीनस्थ राज्य था। शिलालेखों से पता चलता है कि कंबुस्वयंभव कंबुज का मनु था। यही इस राज्य का आदि संस्थापक था। इसके नाम से ही राज्य का नाम कंबुज पड़ा। श्रुतवर्मा इस राज्य का प्रथम राजा था। आगे आनेवाले राजा 'श्रुतवर्ममूला:' कहे गए। फूनान को जीतनेवाला चित्रसेन कंबुज के राजा भववर्मा का भाई था। इस काल के लेखों को देखने से प्रतीत होता है कि इस समय हिंदू संस्कृति उन्नति-पथ पर आरूढ़ थी। ८८९ ई० में यशोवर्मा राजा हुआ। इसने महेंद्र पर्वत पर नई राजधानी बनवाई। यह नगर यशोधरपुर, महानगर अथवा कंबुपुर नाम से प्रसिद्ध था। वर्तमान समय में अंकोरथोम में इसके ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं। नगर के मध्य में बेयन का विशाल शिवमंदिर विद्यमान है। ९४४ ई० में राजेंद्रवर्मा सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके समय कंबुज में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। ९६८ ई० में

जयवर्मा पंचम राजा बना। इस समय हिंदूधर्म ने पुनः प्रधानता प्राप्त की। ११११२ ई० में सूर्य्यवर्मा द्वितीय राजा बना। अंकोरवतु का संसारप्रसिद्ध वैष्णव मंदिर इसी के राज्यकाल में बनाया गया। इस मंदिर की चित्रशालाओं के चित्र जगद्विख्यात हैं। अधिकांश चित्र वैष्णव हैं, किंतु कुछ शैव भी हैं। ऊँचाई में यह मंदिर जावा के बोरोबुदूर मंदिर से भी ८० फीट अधिक ऊँचा है। तेरहवीं शताब्दि से कंबुज की शक्ति शनैः शनैः क्षीण होने लगी। इस दुर्बलता का कारण स्याम और चंपा के सतत आक्रमण थे। १७वीं शताब्दि में योरुपियन लोगों ने भी अपना आधिपत्य जमाना शुरू किया। इसी बीच कंबुज पर प्रभुत्व स्थापना के लिये स्याम और अनाम में संघर्ष हुआ और १८४६ ई० में कंबुज पर स्याम का आधिपत्य स्थापित हो गया। तब से बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। १८८७ ई० में स्याम और फ्रांस की संधि के अनुसार कंबुज पर फ्रांस का अधिकार स्वीकृत कर लिया गया। इस समय यहाँ का राजा और जनता दोनों बौद्ध हैं, किंतु वर्त्तमान कंबोडिया प्राचीन कंबुज से बहुत छोटा है, क्योंकि इसके कुछ प्रदेश १८८७ में स्याम ने ले लिए थे।

कंबुज पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि राजा और कुलीन लोगों के नाम संस्कृतमय रखे गए। राजा लोग महाहोम, लक्षहोम, कोटिहोम आदि यज्ञ करते थे। रामायण, महाभारत और पुराणों का अखंड पाठ होता था। संस्कृत में उत्कीर्ण लेख इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि वहाँ संस्कृत का बहुत प्रचार था। शासन-व्यवस्था राजतंत्र थी। प्रधान मंत्री को राजमहामात्य कहते थे। मुख्य सेनापति को महासेनापति कहा जाता था। राजगुरु भी होते थे। कंबुज का प्रधान धर्म शैव था। राजाओं के लेखों में शिवस्तुति विशेष रूप से उल्लिखित है। शिव-पूजा, शिव-लिंग और शिवमूर्ति दोनों रूपों में की जाती थी, परंतु लिंगपूजा का प्रचार अधिक था। शिव और विष्णु (हरिहर) की इकट्ठी पूजा का भी प्रचार था। शैवों और वैष्णवों में परस्पर विवाद न होकर मेल था। शिव के साथ शिव-पत्नी की पूजा भी होती थी। शिव के बाद दूसरा स्थान विष्णु को प्राप्त था, परंतु वैष्णवों की संख्या बहुत कम थी। भारत की तरह कंबुज में भी ब्रह्मा की पूजा

बहुत कम होती थी। इनके अतिरिक्त इंद्र, उमा, सरस्वती, वागीश्वरी, गंगा, श्री, चंडी, गणेश, लक्ष्मी, सूर्य आदि की उपासना भी प्रचलित थी। शैव और वैष्णव संप्रदायों के साथ साथ हीनयान बौद्धधर्म का भी प्रचार था। राजा लोग धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु थे। वे सब धर्मों को दान देते थे। एक शिला-लेख में शिव, बुद्ध और ब्रह्मा तीनों का एक साथ उल्लेख है। एक अन्य लेख में बोधिद्रुम, शिव, विष्णु और ब्रह्मा का एक साथ वर्णन है। यह अद्भुत मिश्रण दोनों धर्मों के समन्वय की ओर निर्देश करता है। हिंद चीन के प्रदेशों में हिंदुओं के सब से अधिक ध्वंसावशेष कंबुज में पाए जाते हैं। समस्त देश मंदिरों, मूर्तियों और महलों से भरा पड़ा है। मंदिरों की कला दक्षिण भारत की है। पिरामिड आकार के भी कुछ मंदिर उपलब्ध हुए हैं। कई मंदिरों के चारों ओर साँची, बरहुत आदि की तरह प्राकार-वेष्टनी भी है। वर्णव्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था भी वहाँ प्रचलित थी। सूर्यवर्मा के लेख में इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि उसने फिर से वर्णविभाग किया और शैवाचार्य को ब्राह्मण वर्ण का मुखिया बनाया। प्राचीन लेखों में भारतीय साहित्य का उल्लेख बहुत पाया जाता है। लोवक् में प्राप्त लेख में अथर्ववेद और सामवेद का वर्णन है। एक अन्य लेख में "वेदान्तज्ञानसारैः, स्मृतिपथनिरतैः अष्टाङ्ग-योगप्रकटितकरणैः, चतुर्वेदविज्ञातैः" का उल्लेख है। कई लेखों में मनु के वचन ज्यों के त्यों पाए जाते हैं। कंबुज पर भारतीय संस्कृति का असर इतना प्रबल था कि ९०३ में एक अरब यात्री लिखता है "कंबुज भारत का ही हिस्सा है। वहाँ के निवासी भारत से संबंध रखते हैं।" ९४३ में मसूदी लिखता है—"भारत बहुत विस्तृत देश है। भारत की ही एक जाति बहुत दूर कंबुज में बसती है।"

चंपा

जिस समय फूनान का हिंदू राज्य विकासोन्मुख था, लगभग उसी समय चंपा में भी एक हिंदू राज्य अंकुरित हो रहा था। यद्यपि इस राज्य की स्थापना के विषय में तो इतिहास मौन है तथापि, यह निश्चित है कि दूसरी शताब्दि तक भारतीय लोग चंपा में बस चुके थे। इस राज्य का

संस्थापक श्रीमार था। ३८० ई० में भद्रवर्मा सिंहासनारूढ़ हुआ। चंपा के प्राचीन राजाओं में यह सबसे अधिक शक्तिशाली था। इसके लेखों से ज्ञात होता है कि यह चारों वेदों का पंडित था। इसका उत्तराधिकारी गंगाराज अंतिम दिन गंगा के किनारे व्यतीत करने के लिये भारत चला आया था। १२वीं सदी में चंपा और कंबुज के राजाओं में परस्पर अधिकारलिप्सा के लिये लड़ाइयाँ होती रहीं। इन युद्धों में कंबुज का ही हाथ ऊँचा रहा। यद्यपि अनामियों के आक्रमण आरंभ से ही हो रहे थे, परंतु १९वीं सदी के आरंभ में अनामियों ने चंपा को सर्वथा समाप्त कर दिया। देश का प्राचीन नाम चंपा हटाकर अनाम कर दिया। अनामी लोग बौद्ध थे। अतः अब से बौद्धधर्म का प्रचार होने लगा। वर्त्तमान समय में भी अनाम का धर्म यही है।

चंपा-निवासियों पर भी भारतीय संस्कृति की गहरी छाप लगी थी। प्राचीन लेखों से ज्ञात होता है कि चंपा में राजा की जो स्थिति थी वह मनुस्मृति में वर्णित राजा की दशा से मिलती है। राज्यकर मनुस्मृति के अनुसार उत्पत्ति का छठा अथवा दसवाँ हिस्सा लिया जाता था। यह एक सर्वविदित बात है कि भारतीय उपनिवेशों पर जितना प्रभाव भारतीय धर्म और संस्कृति का पड़ा, उतना और किसी चीज का नहीं। आज जब कि इन प्रदेशों पर भारत का राजनीतिक प्रभाव एक अतीत स्वप्न बन चुका है, भारतीय संस्कृति अपने अवि-कसित रूप में अब भी विद्यमान है।

चंपा का प्रधान धर्म शैवधर्म था। प्राचीन लेखों में शिव की बहुत स्तुति की गई है। भारतीय साहित्य में जो कथानक शिव के विषय में वर्णित हैं, उन सबका उल्लेख चंपा के लेखों में जहाँ-तहाँ पाया जाता है। शिव की पूजा, शिवलिंग और शिवमूर्ति दोनों रूपों में होती थी। मुखलिंग भी उपलब्ध हुए हैं। लिंगपूजा का प्रचार अधिक था। राजा लोग लिंगस्थापना करते हुए उसके साथ अपना नाम भी जोड़ देते थे; यथा भद्रेश्वर, इंद्रभद्रेश्वर, विक्रांतरुद्र आदि। अर्धनारीश्वर का विचार भी वहाँ प्रचलित था। चंपा के लोग विष्णु की उपासना पुरुषोत्तम, नारायण, हरि, गोविंद, माधव आदि नामों से करते थे। राजा लोग अपने को विष्णु का अवतार समझते थे। ब्रह्मा की

पूजा चतुरानन और स्वयंभू रूप में प्रचलित थी। इनके अतिरिक्त इंद्र, यम, सूर्य, चंद्र, गंगा आदि की उपासना भी प्रचलित थी। सिद्ध, विद्याधर, यक्ष, किन्नर, गंधर्व और अप्सराओं का वर्णन भी चंपा के लेखों में पाया जाता है। एक तरह से सारा का सारा हिंदूधर्म अपने पूर्ण रूप में वहाँ जाकर विकसित हुआ था। इससे चंपा में एक दूसरा भारत बस गया था। युगों का विचार, पंचभूतों का विचार, अवतारवाद, जीवन की क्षणभंगुरता आदि के विचार भी वहाँ प्रचलित थे। कहने में तो चंपा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण थे, पर क्रियात्मक दृष्टि से ब्राह्मण और क्षत्रिय दो ही भेद थे। यज्ञोपवीत पहनने की प्रथा भी विद्यमान थी। चंपा की वैवाहिक पद्धति हिंदू वैवाहिक पद्धति के सदृश थी। वे जाति और गोत्र आदि का विचार करके विवाह करते थे। सतीप्रथा भी प्रचलित थी। जो स्त्रियाँ पति के साथ सती न होती थीं वे हिंदू विधवाओं की तरह तपस्या का जीवन व्यतीत करती थीं। सिंदूर न लगाती थीं। अच्छे वस्त्र न पहनती थीं। विधवा-विवाह के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। कई हिंदू त्यौहारों का वर्णन भी प्राचीन लेखों में पाया जाता है। मृतक-संस्कार हिंदू विधि से ही होता था। अस्थिप्रवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। संस्कृत-साहित्य का प्रचार बहुत था। राजा भद्रवर्मा चारों वेदों का ज्ञाता था। इंद्रवर्मा तृतीय षड्दर्शन, जैनदर्शन और व्याकरण का पंडित था। जयइंद्रवर्मदेव व्याकरण, ज्योतिष्, महायान और धर्मशास्त्र तथा शुक्रसंहिता का ज्ञाता था। एक स्थान पर योगदर्शन का उल्लेख है। रामायण और महाभारत से वे अच्छी तरह परिचित थे। पुराणों का भी उन्हें पता था। मनु, नारद और भृगु स्मृति का उल्लेख भी लेखों में पाया जाता है। इस प्रकरण को हम श्री रमेशचंद्र मजूमदार के इन शब्दों से समाप्त करते हैं "भारत के वे सुपूत जिन्होंने सुदूर प्रदेशों में जाकर अपनी पताकाएँ गाड़ी थीं और १८०० वर्ष तक अपनी मातृभूमि के गौरव को उज्ज्वल रखते हुए उसे गिरने नहीं दिया था, अंततः विस्मृति की अँधेरी गोद में लुप्त हो गए। परंतु सभ्यता की वे मशालें जिन्हें उन्होंने पकड़ा हुआ था और जो सुदीर्घ काल तक अंधकार से लड़ाई का प्रकाश फैलाती रहीं, अब भी अस्पष्ट रूप में मन्दज्योति से जल रही हैं और भारतीय इतिहास पर एक उज्ज्वल प्रकाश डाल रही हैं।"

स्याम

जिस समय भारतीय आवासक चंपा को आवासित कर रहे थे लगभग उसी समय उसके उत्तर-पश्चिम में स्याम राज्य का उद्‌भव हो रहा था। आठवीं सदी के एक लेख से ज्ञात होता है कि तामिल देश के कुछ लोग, जो वैष्णव मतावलंबी थे, समुद्र-मार्ग से स्याम पहुँचे। इन्होंने वहाँ अपनी बस्तियाँ बसाईं और व्यापार के साथ-साथ संस्कृति-प्रचार भी किया। ये लोग 'मणिग्राम' व्यापारिक संघ के सदस्य थे, परंतु भारत और स्याम का पारस्परिक संबंध इससे सैकड़ों वर्ष पूर्व ही स्थापित हो चुका था। लगभग तीसरी शताब्दि से ही भारतीय आवासकों ने स्याम जाना आरंभ कर दिया था और भारतीय नगरों के नाम पर बस्तियाँ बसानी शुरू कर दी थीं। १३वीं शताब्दि तक स्याम, कंबुज के ही अधीन रहा। स्याम के इन एक हजार वर्षों का इतिहास कंबुज के इतिहास से पृथक् नहीं किया जा सकता। अगला इतिहास तीन भागों में बँटा हुआ है। ये तीन भाग सुखोदय, अयोध्या और बैंकॉक इन तीन नगरों के समय समय पर राजधानी के रूप में परिवर्तित होने के कारण हैं। १७वीं सदी के आरंभ में पोर्चुगीज, डच, फ्रेंच और अँगरेज भी स्याम पहुँचे। इन गोरे व्यापारियों के पीछे पीछे गोरे पादरी भी प्रविष्ट हुए, परन्तु स्याम में इनका संबंध शांतिपूर्ण रहा। इस काल में स्याम और लंका के बीच परस्पर भिक्षु-मंडलों का आवागमन भी होता रहा। २०वीं शताब्दि के आरंभ में स्याम का कुछ प्रदेश अँगरेजों ने और कुछ फ्रेंच लोगों ने छीन लिया। अतः वर्तमान स्याम प्राचीन स्याम से छोटा है।

यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि स्यामी संस्कृति भारतीय संस्कृति की विरासत है। स्याम के धर्म, भाषा और प्रथाओं पर अब तक भारत का अतुल प्रभाव विद्यमान है। वहाँ के संस्कार भारतीय संस्कारों का स्मरण कराते हैं। वहाँ का राजा अपने नाम के पीछे 'राम' शब्द का प्रयोग करता है। सर्व-साधारण के नाम भी भारतीय नामों की ही तरह हैं। स्यामी लोगों का वर्तमान धर्म बौद्धधर्म है। बौद्धधर्म का सर्वप्रथम प्रवेश ४२२ ई० में हुआ। बौद्धधर्म की यह धारा कंबुज और बर्मा दोनों ही ओर से बही। बौद्धधर्म का विशेष प्रसार १३वीं शताब्दि के बाद हुआ। इससे पूर्व वहाँ हिंदूधर्म का

प्रचार था। यद्यपि जनता बौद्धधर्मानुयायी है तथापि हिंदूधर्म का हल्का-सा प्रभाव अब भी विद्यमान है। आज भी स्यामी कलाकार यमराज, मार और इंद्र की मूर्तियाँ बनाते हैं। शिवपूजा के द्योतक लिंग आज भी मंदिरों में पाए जाते हैं। नामकरण, मुंडन, कर्णवेध आदि संस्कार षोडश संस्कारों के ही अवशेष हैं। इस समय भी स्याम में कुछ ब्राह्मण रहते हैं जो यथापूर्व अपने धर्म का पालन करते हैं। ये लोग अपने को उन ब्राह्मणों के वंशज बताते हैं जो ५वीं व छठी शताब्दि में भारत से आकर स्याम में बसे थे। श्राद्ध, संक्रांति, वर्षावास, चंद्रग्रहण आदि उत्सव स्याम में अब भी मनाए जाते हैं। भारतीय साहित्य भी स्याम में बहुत प्रचलित हुआ। इसमें अधिकांश भाग बौद्धसाहित्य का है। बृहत्तर भारत के अन्य देशों की तरह स्याम भी प्राचीन स्मारकों से भरा पड़ा है। हिंदू स्मारकों की अपेक्षा बौद्ध स्मारक अधिक हैं। यहाँ के हिंदू देवालयों में बुद्धप्रतिमा विष्णु के अवतार के रूप में पाई जाती है। प्राचीन नगरों सुखोदय, अयोध्या और देवनगर में बौद्धविहारों, स्तूपों और मंदिरों की भरमार है। यद्यपि आज बृहत्तर भारत के अन्य प्रदेश अपने दीक्षागुरु भारत को भूल चुके हैं, परंतु स्याम अपने गुरु का आज भी स्मरण करता है। स्यामी राजा अपने नाम के पीछे राम शब्द का प्रयोग करता है और चूड़ाकर्म संस्कार के समय अपने हाथ से राजपुत्र के प्रथम बालों को काटता हुआ, ब्राह्मणों द्वारा राजकुमार के सिर पर पवित्र जल छिड़काता हुआ, भारत के अतीत सांस्कृतिक संबंध को आज भी जीवित रख रहा है। वहाँ की भाषा, वहाँ का साहित्य, वहाँ का धर्म और वहाँ के स्मारक भूतकाल के उस भव्य युग की झाँकी दिखा रहे हैं जब दोनों देश परस्पर स्नेह के स्वर्गीय सूत्र में बँधे हुए थे। स्यामी नगरों और जनता के नाम इस अमर कथा को आज भी सुनाते हैं कि हमने जगद्गुरु भारत से दीक्षा ग्रहण की है।

मलायेशिया

जिस समय भारतीय आवासक कंबुज में भारतीय संस्कृति की आधार-शिला रख रहे थे उसी काल में कुछ साहसी प्रवासी मलायेशिया में भी भारतीय सभ्यता का भवन खड़ा कर रहे थे। मलायेशिया में सब मिलाकर छः सहस्र

द्वीप हैं। इनमें से मुख्य मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बालि, बोर्नियो और सॅलिबस हैं। प्राचीन समय में बर्मा से लेकर मलाया प्रायद्वीप तक के समस्त प्रदेश को सुवर्णभूमि और जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों को सुवर्णद्वीप कहते थे। सुवर्णद्वीप में भारतीयों के प्रवेश की सर्वप्रथम तिथि का पता लगाना अत्यंत दुष्कर है, परंतु इतना निश्चित है कि वे बहुत प्राचीन काल से ही सुवर्णद्वीप से परिचित थे। कथासरित्सागर, कथाकोष और जातक-ग्रंथों में सुवर्णद्वीप जानेवाले अनेक यात्रियों की कथाएँ संगृहीत हैं।

मलाया प्रायद्वीप—हिंदचीन के दक्षिण में पूर्वसमुद्र तथा चीनी समुद्र को विभक्त करनेवाली पृथ्वी की पतली सी पट्टी को मलाया प्रायद्वीप कहा जाता है। चीनी विवरणों तथा प्राचीन लेखों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि ईसा की दूसरी शताब्दि तक भारतीय लोग निश्चित रूप से मलाया प्रायद्वीप में बस चुके थे। उनके अनेक राज्य स्थापित हो चुके थे और उन्होंने चीनी सम्राट् के साथ राजनीतिक संबंध भी स्थापित कर लिया था।

सुमात्रा—भारत से पूर्वीय द्वीपसमूह की ओर जाने पर सबसे पहले जो द्वीप पड़ता है, वह सुमात्रा है। यह सुवर्णद्वीप नाम से कहे जानेवाले द्वीपों में सबसे बड़ा है। सुमात्रा का प्राचीन नाम श्रीविजय है। चीनी विवरणों के अनुसार ४थी शताब्दि तक भारतीय लोग निश्चित रूप से सुमात्रा में आवासित हो चुके थे। ७वीं शताब्दि तक यह पर्याप्त शक्तिशाली बन गया था। उस समय वहाँ बौद्धधर्म का प्राबल्य था। अनेक यात्री बौद्धधर्म का ज्ञान प्राप्त करने सुमात्रा जाने लगे थे। सुमात्रा और भारत में आवागमन भी पर्याप्त होने लगा था।

जावा—सुमात्रा से और अधिक पूर्व में जाने पर एक द्वीप आता है जिसे जावा कहते हैं। यह सुंद नाम से कहे जानेवाले द्वीपों में सबसे बड़ा है। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप है। जावा शब्द यव का ही अपभ्रंश है। अत्यंत प्राचीन काल से ही भारतीय साहित्य में यवद्वीप का प्रयोग होता रहा है। रामायण में 'यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितं' करके इसे स्मरण किया गया है। प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार ७४ ई० में सौराष्ट्र के राजा प्रभुजयभय के प्रधान मंत्री अजिशाक ने पहले पहल जावा में पदार्पण किया। इसके एक ही वर्ष उपरांत ७५ ई० में कुछ साहसी लोग कलिंग से रवाना हुए। यद्यपि पहले पहल

वहाँ सौराष्ट्र के लोग गए, पर सर्वप्रथम उपनिवेश कलिंगवालों ने ही बसाए। ६०३ ई० में प्रभुजयभय के छठे उत्तराधिकारी ने पाँच सहस्र अनुयायियों के साथ छः बड़े जहाजों और सौ छोटे जहाजों में जावा की ओर प्रस्थान किया। शीघ्र ही दो सहस्र स्त्री-पुरुष तथा बच्चे और जावा पहुँचे। इन अनुश्रुतियों के अनुसार छठी शताब्दि तक जावा में निश्चित रूप से हिंदू राज्य स्थापित हो चुका था। इसकी सूचना जावा में प्राप्त शिलालेखों से भी मिलती है। जावा का

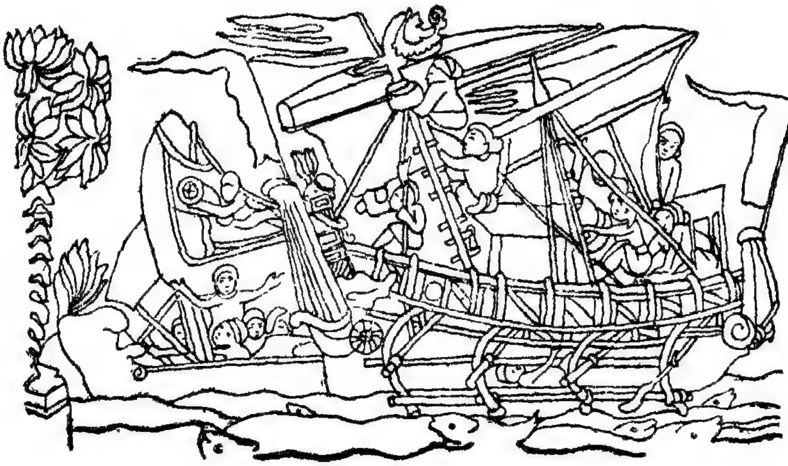

प्राचीन धर्म हिंदूधर्म था। फाहियान का विवरण इसकी पुष्टि करता है, किंतु फाहियान के कुछ ही समय पश्चात् बौद्धधर्म का इतना उत्कर्ष हुआ कि हिंदूधर्मानुयायियों की संख्या अत्यल्प रह गई। जावा में बौद्धधर्म का सर्वप्रथम उपदेष्टा गुणवर्मा था।

बालि—जावा से डेढ़ मील पूर्व की ओर एक छोटा सा द्वीप है, जिसे बालि कहते हैं। संसार भर में भारत को छोड़कर एक मात्र यही द्वीप है जहाँ के निवासी अपनी मातृभूमि से सहस्रों मील दूर रहते हुए अपनी प्राचीन संस्कृति को आज भी स्थिर रखे हुए हैं। यही एक स्थान है जहाँ के मंदिर और प्रतिमाएँ अखंडित रूप में विद्यमान हैं। बालि से कोई प्राचीन लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। चीनी विवरणों के अनुसार ७वीं शताब्दि तक बालि में हिंदू राज्य की स्थापना निश्चित रूप से हो चुकी थी।

बोर्नियो—जावा के ठीक ऊपर एक बड़ा सा द्वीप है जिसे बोर्नियो कहा जाता है। इस द्वीप से प्राप्त लेखों के अनुसार चौथी सदी तक बोर्नियो में अवश्य ही हिंदूराज्य की स्थापना हो चुकी थी। यज्ञादि होने लगे थे, जिनकी स्मृति में लेख उत्कीर्ण कराए गए थे। शिव, गणेश, नंदी, अगस्त्य, ब्रह्मा, स्कंद, महाकाल की पूजा होनी आरंभ हो गई थी। शैव मूर्तियों की अधिकता शैवधर्म के प्राबल्य की द्योतक है। मूर्तियों पर विशुद्ध भारतीय प्रभाव है। संभव है कि ये भारत से ही ले जाई गई हों।

सॅलिबस्—लगभग १५ वर्ष हुए कि सॅलिबस् के पश्चिम तट पर बुद्ध की एक विशाल किंतु भग्न पित्तल-प्रतिमा उपलब्ध हुई। हिंद्चीन तथा पूर्वीय द्वीपसमूह में प्राप्त पित्तल-प्रतिमाओं में यह सबसे विशाल है। इसकी कला लंका की बुद्धप्रतिमाओं के सदृश है। ऐतिहासिकों की सम्मति है कि यह मूर्ति अमरावती से ही वहाँ ले जाई गई थी। आज से पंद्रह वर्ष पूर्व तक सॅलिबस् में भारतीय संस्कृति का कोई भी चिह्न उपलब्ध न हुआ था। इसके प्रकाश में आ जाने से बृहत्तर भारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय का आरंभ हो गया है।

ईसा की प्रथम तथा दूसरी शताब्दि में हिंदू प्रवासियों ने मलायेशिया में जिस सभ्यता की प्रथम किरण को पहुँचाया था उसका उषःकाल सातवीं शताब्दि कही जा सकती है। इसके पश्चात् शैलेंद्र सम्राटों के समय उसका मध्याह्न प्रारंभ हुआ। इन प्रदेशों में प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है कि भारतीय धर्म, भाषा, साहित्य तथा संस्कृति वहाँ के स्थानीय अंश को नष्ट कर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुकी थी। मूलवर्मा के लेख में यज्ञ, दान, ब्राह्मण-प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा तथा सगर आदि राजाओं का उल्लेख है। भारतीय तिथिक्रम, दूरी नापने की भारतीय विधि, चंद्रभागा और गोमती आदि नदियों के नाम और पदचिह्न-पूजा वहाँ प्रचलित हो चुकी थी। शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, नंदी, स्कंद और महाकाल की पूजा में मंदिरों का निर्माण हो चुका था। गंगा की पवित्रता का विचार प्रचलित था। लेखों की संस्कृत भाषा और राजाओं के वर्मा-युक्त नाम भारतीय प्रभाव के सूचक हैं। पाँचवीं शताब्दि तक वहाँ हिंदूधर्म का उत्कर्ष रहा। इसके बाद बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। नालंदा का उपाध्याय धर्मपाल तथा दक्षिण भारत का भिक्षु वज्रबोधि चीन जाते हुए सुमात्रा ठहरे थे। उस समय यह विद्या के अतिरिक्त व्यापार का भी बड़ा केंद्र था।

ऊपर कहा जा चुका है कि सप्तम शताब्दि तक मलायेशिया के संपूर्ण भाग हिंदू आवासकों द्वारा आवासित किए जा चुके थे। उन प्रदेशों में सैकड़ों राजा स्वतंत्रतापूर्वक शासन कर रहे थे। कोई ऐसा शक्तिशाली राजा न था जिसकी अधीनता सभी स्वीकार करते हों। अब शैलेंद्र नामक नई शक्ति उत्पन्न हुई। ये शैलेंद्र लोग भारत से आए थे। ७वीं सदी में इन्होंने कलिंग से बर्मा की ओर प्रस्थान किया और ८वीं शताब्दि में बर्मा जीतकर मलायेशिया पर आक्रमण आरंभ किए। ८वीं शताब्दि में मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा तथा जावा भी इनके अधीन हो गए। इन्होंने इस संपूर्ण प्रदेश का नाम अपने देश की स्मृति में कलिंग रखा। इनका धर्म महायान बौद्ध था। बोरोबुदूर तथा कलस्सन के बौद्ध मंदिर इन्हीं की कला के साकार रूप हैं। शिलालेखों से पता चलता है कि चंपा और कंबुज पर भी इनका अधिकार था। ११वीं शताब्दि में इनके अनेक प्रतिस्पर्धी उत्पन्न हो गए। एक ओर तो जावा के राजा और दूसरी ओर चोल लोग इनसे टक्कर लेने लगे। इस संघर्ष में जावा को पूर्णतया परास्त कर दिया गया। अब चोल लोग रह गए। पूरे सौ वर्ष तक चोलों के साथ निरंतर संघर्ष होने के कारण शैलेंद्रों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई। यद्यपि इसके तीन सौ वर्ष बाद तक शैलेंद्रों का सितारा जगमगाता रहा, परंतु अब उसका पिछला प्रभाव नष्ट हो चुका था। १४वीं सदी में जावा के राजा ने वह सब प्रदेश, जो शैलेंद्रों के अधीन था, अपने अधिकार में कर लिया, पर वे इसे स्थिर रूप से अधीन नहीं रख सके। १५वीं सदी में मलाया प्रायद्वीप में जो विविध राज्य उद्भूत हुए उनमें मलक्का सबसे मुख्य था। १४८६ ई० के एक लेख से ज्ञात होता है कि इस समय तक मलक्का में इस्लाम का पाया जम चुका था। गुजरात और ईरान के मुसलमान व्यापारी मलक्का में बसने लगे थे। इन्होंने इस्लाम के व्यापार में बहुत हाथ बँटाया। यद्यपि जनता का धर्म बदल गया फिर भी भारतीय संस्कृति का समूल नाश नहीं हुआ। आज भी जब कोई यात्री मलक्का के तट पर उतरकर सरकारी भवन की ओर पग बढ़ाता है तो उसे पहाड़ी पर बनी प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि कभी यहाँ के शासक हिंदू थे।

बहुजनहिताय बहुजनसुखाय

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं ।

देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ ।

हे भिक्षुओ ! जनता के हित के लिये, जनता के सुख के लिये, लोक पर अनुकंपा करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों का हित-सुख करने के लिये विचरो।

आरंभ में कल्याणकर, मध्य में कल्याणकर, अंत में कल्याणकर धर्म का शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो ।

महाजनक और देवी मणिमेखला का संवाद

['महाजनक जातक' से संकलित]

निम्नलिखित अवतरण महाजनपदयुग (१००० विक्रम पूर्व से ५०० वि० पू० तक) की जनता के दृढ़ आशावाद और उद्यमशील कर्मण्यता को प्रकट करता है। महाजनक जातक की कहानी में, जब टूटे जहाज का कूपक (मस्तूल) थामे हुए, अपने साथियों के लहू से लाल हुए समुद्र में सात दिन तक तैरने के बाद भी महाजनक हिम्मत नहीं हारता, तब देवी मणिमेखला उसके सामने अलंकृत रूप में आकाश में प्रकट होकर उसकी परीक्षा करने के लिये इस प्रकार कहती है और दोनों में यह संवाद होता है—

१

'यह कौन है जो समुद्र के बीच, जहाँ तीर का कुछ पता नहीं है, हाथ मार रहा है? क्या अर्थ जानकर—किसका भरोसा करके—तू इस प्रकार वायाम (= व्यायाम, उद्यम) कर रहा है?'

२

'देवि, मैं जानता हूँ कि लोक में जब तक बने मुझे वायाम करना चाहिए। इसी से समुद्र के बीच तीर को न देखता हुआ भी उद्यम कर रहा हूँ।'

३

'इस गंभीर अथाह में जिसका तीर नहीं दिखाई देता, तेरा पुरिसवायाम (पुरुषार्थ) निरर्थक है; तू तट को पहुँचे बिना ही मर जायगा।'

४

'क्यों तू ऐसा कहती है? वायाम करता हुआ मरूँगा भी तो गर्हा से तो बचूँगा। जो पुरुष की तरह उद्यम (पुरिसकिच्च, पुरुषकृत्य) करता है

वह अपने ज्ञातियों (कुटुंबियों), देवों और पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है, और उसे पछतावा नहीं होता (कि मैंने अपने प्रयत्न में कोई कसर छोड़ी)।'

५

'किंतु जिस काम के पार नहीं लगा जा सकता, जिसका कोई फल या परिणाम नहीं दिखाई देता, वहाँ वायाम से क्या लाभ—जहाँ मृत्यु का आना निश्चित ही है?'

६

'जो यह जानकर कि मैं पार न पाऊँगा उद्यम नहीं करता, यदि उसकी हानि हो, तो देवि, उसमें उसी के दुर्बल प्राणों का दोष है। मनुष्य अपने अभिप्राय के अनुसार, देवि, इस लोक में अपने कार्यों की योजना बनाते और यत्न करते हैं; सफलता हो या न हो (सो देखना उनका काम नहीं है)। कर्म का फल निश्चित है देवि, क्या तू यहाँ यह नहीं देख रही? मेरे साथी सब डूब गए, और मैं तैर रहा हूँ, और तुझे अपने पास देख रहा हूँ! सो मैं व्यायाम करूँगा ही, जब तक मुझमें शक्ति है, जब तक मुझमें बल है, समुद्र के पार जाने को पुरुषकार करता रहूँगा।'*

---

* श्री जयचंद्र जी विद्यालंकार-कृत रूपरेखा, भाग १, पृ० ३४६ में दिया हुआ अनुवाद। मूल पाली गाथाओं के लिये देखिए, फॉसबॉल कृत पाली जातक, भाग ६, महाजनक जातक (५३९), पृ० ३५-३६।

कुछ वर्तमान भौगोलिक नामों के प्राचीन रूप

[संकलनकर्ता—श्री वासुदेवशरण]

वर्तमान रूप	मूल प्राचीन रूप	विवरण
ईरान	ऐर्यायण	
अफगान	अश्वकायन	
पठान	पक्थन	
पारस	पर्शु, पारसीक	
सूसा	शूषा	ईरानी सम्राट् दारा की पुरानी राजधानी
बेबिलन	बवेरु	
हरप्पा	हरियूपा	
अफरीदो (अप्रीदी)	आप्रीत, आप्रीताः	
मोहमंद	मधुमंतः	
तरखान	तार्क्ष्यायण	पंजगार और चितराल के बीच सोमाप्रांत का एक कबीला
मुंजानो	मौंजायन	वंक्षु नदी के उद्गम के पास गल्चा भाषा-भाषी एक जाति
बखान	बकन, वर्कण	अफगानिस्तान का उत्तर-पूर्वी छोटा प्रदेश
कुर्रम	क्रुमु	
गोमल	गोमती	
बोलन	भलन	
काबुल	कुभा, कुहकाः	
स्वात	सुवास्तु	
हरिरूद	हर्यु (ईरानी) सरयू (संस्कृत)	

वर्तमान रूप	मूल प्राचीन रूप	विवरण
अर्गंदाब	अरुवंइती— हरह्वैती —सरस्वती	
बल्ख	वाह्लीक	
बेग्राम	कपिशा	काबुल से ६० मील उत्तर-पूर्व
हिंदूकुश	उपरिश्येन—परोपनिसस (ईरानी)	
दर्वाज	द्वारका	कंबोज और बदख्शाँ के पश्चिम
खोतन	कुस्तन	
कंधार	गांधार	
रुहिल्ले	रोह	अफगानिस्तान का मध्यकालीन नाम; वहाँ से आनेवाले लोग
खिवड़ा	केकय	नमक की पहाड़ी अथवा शाहपुर-झेलम-गुजरात का प्रांत
वाना	वनायु	सीमाप्रांत की घाटी, दक्षिणी वजीरिस्तान
पामीर बदख्शाँ	कंबोज	मध्यकालीन कंबोह
बन्नू	वर्णु	
गोरी	घोरका:	पंचकोरा नदी के उद्गम के पास
हजारा	अभिसार	
डुग्गर	दार्व	काश्मीर का जम्मू प्रांत
दर्दिस्तान	दरद्	
हुंजा	हंसकायना:	काश्मीर के उत्तर-पश्चिम कोने का एक प्रदेश
मूला	मौलेया:, मूला	मूला (नदी), मौलेय (उसके काँठे में रहनेवाले लोग)
बुगती	भागभित्ति	सिंध-बलूचिस्तान की उत्तरी सीमा पर बसनेवाली एक जाति
रोड़ी	रौरुक	

वर्तमान रूप	मूल प्राचीन रूप	विवरण
सक्खर	शार्कर	
वजीरिस्तान	कोकनद	चीनी भाषा में की क्यांग (ह्वेन्त्सांग का यात्रा-विवरण)। 'कीकिन' (अरबी भौगोलिक); किकियाअ
पंजकोरा	गौरी	
बारा	वरा	एक नदी जिसके किनारे पेशावर बसा है।
चारसद्दा	पुष्कलावती	
सीस्तान	शकस्थान	
पविंदे	पविंदायन	सीमाप्रांत की एक जाति
आमू दरिया	आक्सस (यूनानी) वंक्षु (संस्कृत) नामांतर —चक्षु, वक्षु	
यारकंद नदी	सीता	
सफेद कोह पर्वत	श्वेत पथ	साँची, भाग १, प्लेट सं० ८९
दरगाई	दार्गलाः	
चितराल	चित्रक	इसका दूसरा नाम शामाक भी है।
लगमान	लंपाक	अफगानिस्तान के जलालाबाद प्रांत में एक जिला।
अरब	ताजिक	अरबों का मध्यकालीन नाम
मलाकंद	मालावत्	
बंगाल की खाड़ी	महोदधि	
अरबसागर	रत्नाकर	
पेलंबांग	श्रीविजय	सुमात्रा का पूर्वी भाग
सिंगापुर	सिंहपुर	
नीकोबार	निक्कवरम्	
अंडमन	इंद्रद्युम्न	
सीलोन	सिंहल, ताम्रपर्णी	लंका

वर्तमान रूप	मूल प्राचीन रूप	विवरण
प्रोम	ब्रह्म	बर्मा का एक नगर
बर्मा	सुवर्णभूमि	
सुमात्रा	स्वर्णद्वीप	
जावा	यवद्वीप	
कंबोडिया	कंबुज	
अनाम	चंपा	
केडा	कडार	मलयद्वीप के पश्चिम में एक प्रदेश
अरोरा बोरिएलिस	स्वयंप्रभा देवी	महाभारत (भीष्म पर्व ८,१०), किष्किंधा कांड (४३,५३-५४) में भी यही नाम है।

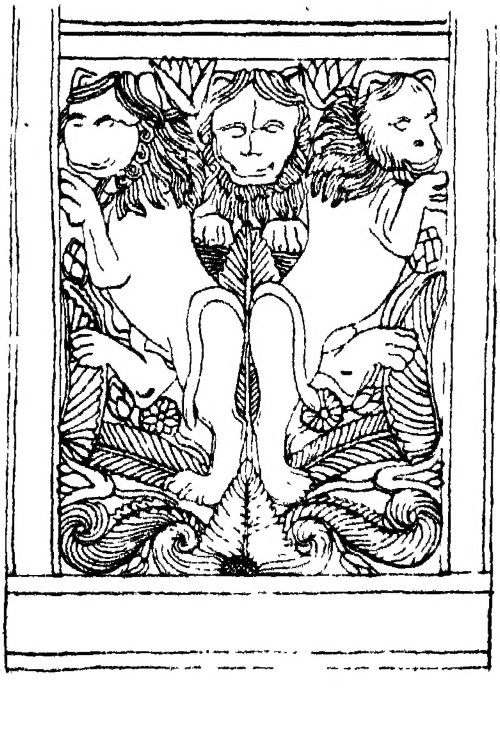

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
विक्रम-पुष्पांजलि	
भारत-वंदना [महाभारत से]	१
चरैवेति-चरैवेति गान [लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल] ...	५
विक्रम सूत्र [लेखक श्री रामदत्त शुक्ल भारद्वाज, लखनऊ] ...	७
विक्रम संवत्सर का अभिनंदन [लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]	११
विष्णु का वि	१७
शाकंवरी मत	२५
पारिस्थिती ग	३१
देश का नाम	३३
लम्पसकस से]	३९
गुप्त-युग में	४२
पृथिवीसूक्त	४६
विक्रम सं	७७
विक्रमादि	९५
साहसांक	१०८
विक्रम	१२४
गौतमीपु	१२५
बोधायन	

वीर सेवा मन्दिर
पुस्तकालय
काल नं० (०५)२२ (५८) नागरी
लेखक
शीर्षक नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष ४८ अंक १-४ खण्ड क्रम संख्या २५८८